

जय नानेश

जय महावीर

जय रामेश

जैन संस्कार पाठ्यक्रम

भाग-7



: प्रकाशक :

साधुमार्गी पब्लिकेशन

अन्तर्गत : श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

भूमिका....

पुस्तक	:	जैन संस्कार पाठ्यक्रम भाग-7
संस्करण	:	दिसम्बर 2020
प्रतियाँ	:	2100
मूल्य	:	रुपये 20/-
प्रकाशक	:	श्री अ.भा.सा. जैन संघ, बीकानेर
अर्थ सहयोगी	:	स्वधर्मी परिवार
पुस्तक प्राप्ति स्थान	:	श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ समता भवन, आचार्य श्री नानेश मार्ग, श्री जैन पी.जी. कॉलेज के सामने, नोखा रोड, गंगाशहर, बीकानेर-334401 (राज.) फोन: 0151-3292177, 2270261
	:	आचार्य श्री नानेश ध्यान केन्द्र राणाप्रतापनगर रोड, सुन्दरवास, उदयपुर (राज.) फोन: 0294-2490717, 2490306
प्रिन्टर्स-	:	-----

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ द्वारा अनेक धार्मिक एवं सामाजिक गतिविधियाँ चलाई जा रही हैं, जिनमें धार्मिक परीक्षा बोर्ड भी एक है, सन् 1974 से ये परीक्षाएँ निरन्तर चल रही हैं। जिसके माध्यम से ज्ञानार्जन करने वालों के लिए पाठ्यक्रम निर्धारित कर परीक्षाएँ ली जाती रही हैं। विभिन्न प्रसंगों पर परमागम रहस्यज्ञाता, व्यसनमुक्ति प्रणेता १००८ श्रद्धेय आचार्य श्री रामलालजी म.सा. से तत्त्व चर्चा का अवसर प्राप्त होता रहा है। तत्त्व चर्चा के दौरान बदलते परिवेश के अनुरूप नये पाठ्यक्रम की आवश्यकता अनुभूत हुई। अतएव जैन संस्कार पाठ्यक्रम के नाम से नवीन पाठ्यक्रम निर्धारित किया गया है जिसमें 1 से 12 भाग प्रस्तुत किए गए हैं, जिससे जैन धर्म के मूल सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त होगा तथा विशेष ज्ञानार्जन कर जीवन में कुछ पा सकेंगे, ऐसा विश्वास है। पाठ्यक्रम को सुरुचिपूर्ण एवं सुबोध बनाने के लिए साहित्य की विविध विधाओं से सम्पन्न बनाया गया है।

पाठ्यक्रम के संकलन में प्रत्यक्ष, परोक्ष रूप से जिनका भी मार्गदर्शन एवं सहयोग मिला, उनके प्रति हृदय से आभार व्यक्त करते हैं।

सभी श्री संघों एवं चातुर्मासिक क्षेत्रों के धर्मानुरागी भाई-बहिनों से अनुरोध है कि अधिक-से-अधिक इन परीक्षाओं में भाग लेकर ज्ञान की श्रीवृद्धि में योगदान प्रदान करें। इसी शुभेच्छा के साथ।

विनीत

संयोजक-धार्मिक परीक्षा बोर्ड

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर

परीक्षा के नियम

परीक्षा में भाग लेने वाले विद्यार्थियों को फार्म भरना आवश्यक है कम से कम दस परीक्षार्थी होने पर वहाँ परीक्षा केन्द्र खोला जा सकेगा।

1. पाठ्यक्रम - भाग 1 से 12 तक
2. योग्यता - ज्ञानार्जन का अभिलाषी
3. परीक्षा का समय - माह आसोज, बदी पक्ष
4. श्रेणी निर्धारण
 - प्रथम श्रेणी - 75% से अधिक
 - द्वितीय श्रेणी - 50% से 75%
5. परीक्षा फल - परीक्षा फल का प्रकाशन श्रमणोपासक पत्रिका में तथा परीक्षा केन्द्रों पर उपलब्ध रहेगा।
6. प्रमाण-पत्र - सम्बन्धित परीक्षा केन्द्रों पर प्रमाण-पत्र भिजवाये जाएंगे।
7. पारितोषिक - प्रत्येक परीक्षा में प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा अन्य प्रोत्साहन पुरस्कार।
 - 18 वर्ष से कम उम्र के विद्यार्थियों के लिए 71% से 100% प्रथम श्रेणी।
 - 35% से 70% द्वितीय श्रेणी।

परीक्षार्थी ध्यान देवें!

यह धार्मिक परीक्षा ज्ञानार्जन एवं जीवन विकास हेतु है। इसमें नकल करना अथवा पुस्तक आदि देखकर लिखना या पूछकर उत्तर लिखना नियम विरुद्ध है। परीक्षा निरीक्षक अनुशासनात्मक कार्यवाही हेतु अधिकृत है।

अनुक्रम

क्रं.	विभाग	पृष्ठ संख्या	अंक 100
I	सूत्र विभाग	1. नमिप्रव्रज्या : एक परिचय	10
		2. उत्तराध्ययन सूत्र नवम् अध्ययन	12
II	तत्त्व विभाग	1. संज्ञा का थोकड़ा	27
		2. आत्मारम्भी परारम्भी का थोकड़ा	30
		3. रोगोत्पत्ति के कारण	31
		4. 5 समिति 3 गुप्ति का थोकड़ा	32
		5. भिक्षा के 110 दोष	37
III	कथा विभाग	1. महासती ब्राह्मी	48
		2. वैराग्य मूर्ति सुन्दरी	52
		3. दृढव्रती सेठ सुदर्शन	57
		4. कांक्षा से निःकांक्षा की ओर कपिल केवली	60
IV	काव्य विभाग	1. परमात्म बत्तीसी (16)	65
		2. संघ समर्पणा गीत	68
		3. रोज शाम को	70
		4. सदा हो मन में इनका ध्यान	71
		5. हे प्रभु पंच परमेष्ठी दयाला	72
V	सामान्य ज्ञान विभाग	1. परम कल्याण के 40 बोल	73
		2. समाधि स्वरूप	76
		3. क्षमा	78
		4. आलोचना के सुभाषित	82
		5. परीक्षा प्रश्न-पत्र	83

अस्वाध्यायिक

निम्नलिखित बत्तीस अस्वाध्यायिक के कारणों को टालकर स्वाध्याय करना चाहिए।

अंतरिक्ष संबंधी 10 अस्वाध्यायिक

क्र. नाम	अंतरिक्ष संबंधी 10 अस्वाध्यायिक	काल मर्यादा
1. उल्कापात	रेखायुक्त (पीछे पूँछ के समान) या प्रकाश युक्त तारे का गिरना किसी	एक प्रहर तक
2. दिग्दाह	दिशा में महानगर जलने के समान ऊपर प्रकाश नीचे अधंकार दिखाई देना	एक प्रहर तक
3. गर्जित	मेघ गर्जना होना	दो प्रहर तक
4. विद्युत्	बिजली चमकना	एक प्रहर तक

नोट:- सूर्य के साथ आर्द्रा नक्षत्र के योग से लेकर स्वाति नक्षत्र के योग होने तक मेघ गर्जना और बिजली चमकना संबंधी अस्वाध्यायिक नहीं माना जाता। आर्द्रा नक्षत्र से स्वाति नक्षत्र का काल तारीख के हिसाब से 21 जून से 25 अक्टूबर के लगभग होता है।

5. निर्घात	बादल के होने पर या न होने पर व्यन्तर कृत महागर्जना के समान ध्वनि का होना। वर्तमान में बिजली कड़कना/गिरना इसके अन्तर्गत माना जाता है।	आठ प्रहर तक
6. यूपक	शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा, द्वितीया व तृतीया को रात्रि की प्रथम पौरुषी पर्यन्त। ये पक्खी के बाद की तीन रात्रियाँ समझना, चाहे पक्खी चतुर्दशी की हो या अमावस्या की।	प्रहर रात्रि तक
7. यक्षादीप्त	आकाश में एक दिशा में बीच-बीच में (एक-एक कर) व्यन्तर (देवता) कृत विद्युत् के समान प्रकाश होना	एक प्रहर तक
8. धूमिका	काली धूँवर (अंधकार युक्त, धुँए के समान) का आना	जब तक रहे
9. महिका	श्वेत धूँवर का आना	जब तक रहे
10. रज उद्घात	चारों दिशाएँ धूल से भर जाने पर सब ओर अंधकार जैसा दिखाई दे (चाहे वायु हो या न हो) (दिग्दाह एवं यक्षादीप्त वर्तमान में कम दृष्टिगोचर होते हैं)	जब तक रहे

औदारिक संबंधी अस्वाध्यायिक

11-13. हड्डी,
रक्त, माँस

“तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय संबंधी अस्वाध्यायिक”

- रक्त सहित चर्म, रुधिर, माँस, अस्थि, अण्डा, अण्डे का कलल या पशु-पक्षी का शव आदि साठ हाथ के भीतर पड़े हो तो उपर्युक्त सभी जब से जीव रहित हुए तब से (चर्म, रुधिर, माँस आदि के रहने पर भी तीन प्रहर के बाद अस्वाध्यायिक नहीं रहता)
- किसी तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय (बड़ी कायवाले) की जहाँ घात (तिर्यञ्च या मनुष्य के द्वारा) हुई हो तो वहाँ चारों ओर साठ हाथ तक (कम से कम 3 प्रहर टालना आवश्यक है, चाहे सूर्योदय हो भी गया हो)
- पका हुआ माँस अस्वाध्यायिक नहीं है।
- साठ हाथ के भीतर जर वाले पशुओं की प्रसूति हो तो जर गिरे तब तक और जर गिरने के बाद
- साठ हाथ के भीतर बिना जर वाले पशुओं की प्रसूति के बाद

“गर्भज मनुष्य संबंधी अस्वाध्यायिक”

- सौ हाथ के भीतर रक्त सहित चर्म, खून, माँस यदि पड़े हो तो ये पदार्थ जब से जीव रहित हुए, तब से (उसके बाद नहीं, चाहे वह पदार्थ वहाँ पड़ा हो या न हो)
- जिस गली/गृहपंक्ति में से शव जब तक नहीं निकाला जाए तब तक उस गली/गृहपंक्ति में अस्वाध्यायिक रहता है।
- मनुष्य की हड्डी सौ हाथ के भीतर हो ता जब से जीव रहित हुई तब से (12 वर्ष के बाद अस्वाध्यायिक नहीं। 12 वर्ष के पहले ही यदि अस्थि जली हुई हो या वर्षा आने से धुल गई हो तो जलने व धुलने के बाद अस्वाध्यायिक नहीं रहता)
- खून यदि विवर्ण हो गया हो यानि उसकी पर्याय/रंग बदल गया हो तो अस्वाध्यायिक नहीं होता
- बालक-बालिका के जन्म के क्रमशः सात और आठ दिन तक 100 हाथ के भीतर अस्वाध्यायिक माना जाता है।

1. नमिप्रव्रज्या-एक परिचय

नमिराजर्षि के प्रत्येक बुद्ध होकर प्रव्रज्या ग्रहण करने की घटना इस प्रकार है- मालव देश के सुदर्शनपुर का राजा मणिरथ था। उसका छोटा भाई युवराज युगबाहु था। मदनरेखा युगबाहु की पत्नी थी। मदनरेखा के रूप में आसक्त मणिरथ ने छल से अपने छोटे भाई की हत्या कर दी। गर्भवती मदनरेखा शील रक्षा हेतु वन में चली गई। वन में एक पुत्र को जन्म दिया। उस शिशु को मिथिला नृप पद्मरथ मिथिला ले आया। उसका नाम रखा 'नमि' यही नमि आगे चलकर पद्मरथ के मुनि बन जाने पर राजा बने। एक बार नमि राजा के शरीर में दुःसह दाहज्वर उत्पन्न हुआ, घोर पीड़ा होने लगी। छह महीने तक उपचार चला लेकिन कोई लाभ नहीं हुआ। एक वैद्य ने चन्दन का लेप शरीर पर लगाने के लिए कहा। रानियाँ चन्दन घिसने लगी। चन्दन घिसते समय हाथों में पहने हुए कंकणों के परस्पर टकराने से आवाज हुई। वेदना से व्याकुल नमिराज कंकणों की आवाज सह नहीं सके। रानियों ने जाना तो सौभाग्य चिह्न स्वरूप एक-एक कंकण रखकर शेष सभी उतार दिए। अब आवाज बंद हो गई अकेला कंकण कैसे आवाज करेगा। राजा ने मंत्री से पूछा- "कंकणों की आवाज क्यों नहीं सुनाई दे रही है?"

मंत्री ने कहा- "स्वामिन! आपको कंकणों के टकराने से होने वाली ध्वनि अप्रिय लग रही थी अतः रानियों ने सिर्फ एक कंकण हाथ में रखकर शेष सभी उतार दिए हैं।" राजा को इस घटना से नया प्रकाश मिला। इस घटना से राजा प्रतिबुद्ध हो गया। सोचा जहाँ अनेक हैं वहाँ संघर्ष है, दुख, पीड़ा और रागादि दोष है, जहाँ एक है वहीं, सच्चा सुख है। अतः जब तक मैं मोहवश स्त्रियों, खजानों, महलों तथा गज, अश्वादि से एवं राजकीय भोगों से संबद्ध हूँ, तब तक मैं दुःखित हूँ। इन सबको छोड़कर एकाकी होने पर ही सुखी हो सकूँगा। इस प्रकार राजा के मन में विवेकमूलक वैराग्य भाव जागा। उसने सर्व संग परित्याग करके एकाकी होकर प्रव्रजित होने का दृढ़ संकल्प किया। दीक्षा ग्रहण करने की इस भावना से नमि राजा को गाढ़ निद्रा आई। उनका दाह ज्वर शांत हो गया। रात्रि में श्वेत गजारुढ़ होकर मेरु पर्वत पर चढ़ने का विशिष्ट स्वप्न देखा, जिस पर ऊहापोह करते-करते जाति

स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। राजा ने जान लिया कि मैं पूर्व भव में शुद्ध संयम पालन के कारण उत्कृष्ट 16 सागरोपम वाले देवलोक में उत्पन्न हुआ फिर इस जन्म में राजा बना। अतः उन्होंने अपने पुत्र को राज्य सौंपा और सर्वोत्कृष्ट मुनिधर्म में दीक्षित होने के लिए सब कुछ ज्यों का त्यों छोड़ कर नगर से बाहर चले गए।

अकस्मात् नमि राजा के यों राज्य त्याग कर प्रव्रजित होने के समाचार स्वर्ग के देवों ने जाने तो वे विचार करने लगे- यह त्याग क्षणिक आवेश है या वास्तविक वैराग्यपूर्ण है अतः उनकी प्रव्रज्या की परीक्षा लेने स्वयं देवेन्द्र देवराज शक्र ब्राह्मण का वेश बना कर नमिराजर्षि के पास आए और क्षात्रधर्म की याद दिलाते हुए लोक जीवन से संबंधित 10 प्रश्न उपस्थित किए, जिनका समाधान उन्होंने एकत्वभावना और आध्यात्मिक दृष्टि से कर दिया। इन्हीं प्रश्नों के उत्तर का वर्णन उत्तराध्ययन के 9वें अध्ययन में किया गया है इस अध्ययन का नाम "नमि प्रव्रज्या" है। इसका स्वाध्याय दिन एवं रात के प्रथम व अंतिम प्रहर में अस्वाध्याय को टाल कर करना चाहिए।



2. उत्तराध्ययन सूत्र नवम् अध्ययन

नमिपव्वज्जा

चइऊण देव-लोगाओ, उववण्णो माणुसम्मि लोगम्मि।

उवसंत-मोहणिज्जो, सरई पोरणिण्यं जाइं ॥१॥

उवसंत-मोहणिज्जो- जिसके दर्शन-मोहनीय कर्म का उपशम हो गया है, ऐसा नमिराज का जीव, देव-लोगाओ- सातवें देवलोक से, चइऊण- चव कर, माणुसम्मि लोगम्मि- मनुष्य लोक में, उववण्णो- उत्पन्न हुआ और जाति स्मरण ज्ञान द्वारा, पोरणिण्यं- पहले के, जाइं- जन्म का, सरई- स्मरण करने लगा ॥१॥

जाइं सरित्तु भयवं, सहसंबुद्धो अणुत्तरे धम्मे।

पुत्तं ठवित्तु रज्जे, अभिनिक्खमई नमी राया ॥२॥

जाइं- पूर्वभव का, सरित्तु- स्मरण करके, भयवं- भगवान्, नमी राया- नमिराज, सहसंबुद्धो- स्वमेव बोध को प्राप्त हुए और, पुत्तं- पुत्र को, रज्जे- राज्यगद्दी पर, ठवित्तु- स्थापित करके, अणुत्तरे- सर्वश्रेष्ठ, धम्मे- श्रुत-चारित्र रूप धर्म के सम्मुख होकर, अभिनिक्खमई- गृहस्थावस्था से निकले ॥२॥

सो देवलोगसरिसे, अंतेउर-वरगओ वरे भोए।

भुजित्तु नमी राया, बुद्धो भोगे परिच्चयइ ॥३॥

अंतेउर-वरगओ- उत्तम अन्तःपुर में रहकर, देवलोगसरिसे- देवलोक सरीखे, वरे- श्रेष्ठ, भोए- भोगों को, भुजित्तु- भोगकर, सो- उन, नमी राया- नमिराज ने, बुद्धो- बोध (तत्त्व ज्ञान) पाकर, भोगे- भोगों को, परिच्चयइ- छोड़ दिया ॥३॥

मिहिलं सपुर-जणवयं, बल-मोरोहं च परियणं सव्वं।

चिच्चा अभिनिक्खंतो, एगंत-महिट्टिओ भयवं ॥४॥

सपुर-जणवयं- नगरों और जनपदों एवं प्रांतों से जुड़ी हुई, मिहिलं- मिथिला नगरी, बलं- चतुरंगिणी सेना, ओरोहं- अन्तःपुर, च- और, परियणं- परिजन-दास-दासी आदि, सव्वं- सभी को, चिच्चा- छोड़कर, भयवं- भगवान् नमिराज ने, अभिनिक्खंतो- प्रव्रज्या धारण की और, एगंतं- एकान्त का, अहिट्टिओ- आश्रय लिया अर्थात् द्रव्य से उद्यान रूप

एकान्त का और भाव से सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्ष का आश्रय लिया ॥४॥

कोलाहलग-भूयं आसी, मिहिलाए पव्वयंतम्मि।

तइया राय-रिसिम्मि, नमिम्मि अभिनिक्खमंतम्मि ॥५॥

तइया- उस समय, राय-रिसिम्मि- राजर्षि, नमिम्मि- नमिराज के अभिनिक्खमंतम्मि- गृहस्थावस्था से निकलने और, पव्वयंतम्मि- प्रव्रज्या धारण करने पर, मिहिलाए- मिथिला नगरी में, कोलाहलग-भूयं- चारों ओर कोलाहल, आसी- होने लगा ॥५॥

भावार्थ- शास्त्रकारों ने नमिराज को गृहस्थावस्था में भी राजर्षि कहा है। इसका कारण यह है कि जो राजा न्यायी होता है और क्रोधादि छह अन्तरंग शत्रुओं को जीत लेता है, वह राजर्षि कहलाता है।

अब्भुट्ठयं रायरिसिं, पव्वज्जा ठाण-मुत्तमं।

सक्को माहण-रूवेणं, इमं वयण-मब्बवी ॥६॥

उत्तमं- उत्तम, पव्वज्जा ठाणं- सम्यग्दर्शनादि गुणों के आधार रूप प्रव्रज्या स्थान में, अब्भुट्ठयं- अभ्युद्यत (स्थिति) रायरिसिं- राजर्षि नमिराज से, माहण-रूवेणं- ब्राह्मण का रूप धारण करके, सक्को- शकेन्द्र ने, इमं- इस प्रकार, वयणं- वचन, अब्बवी- कहा (प्रश्न किया) ॥६॥

किण्णु भो! अज्ज मिहिलाए, कोलाहलग-संकुला।

सुव्वंति दारुणा सद्दा, पासाएसु गिहेसु य? ॥७॥

भो- हे नमिराजर्षि! अज्ज- आज, मिहिलाए- मिथिला नगरी के, पासाएसु- प्रासादों (राजमहलों) में, य- और, गिहेसु- घरों में, कोलाहलग-संकुला- कोलाहल से व्याप्त, दारुणा- हृदय को विदीर्ण करने वाले भयंकर विलाप आक्रन्दन आदि, सद्दा- शब्द, किण्णु- क्यों, सुव्वंति- सुनाई देते हैं? ॥७॥

एयमट्ठं निसामित्ता, हेऊ-कारण-चोइओ।

तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥८॥

तओ- शकेन्द्र का, एयं- पूर्वोक्त, अट्ठं- अर्थ-प्रश्न, निसामित्ता- सुनकर, हेऊ-कारण-चोइओ- हेतु और कारण से प्रेरित हुए, नमी रायरिसी- नमी राजर्षि, देविंदं- देवेन्द्र से, इणं- इस प्रकार, अब्बवी- कहने लगे ॥८॥

मिहिलाए चेइए वच्छे सीयच्छाए मणोरमे।

पत्त-पुप्फ-फलोवेए, बहूणं बहू-गुणे सया ॥९॥

मिहिलाए- मिथिला नगरी के, चेइए- उद्यान में, पत्त-पुष्प-फलोवेए- पत्र-पुष्प और फलों से युक्त, सीयच्छाए- शीतल छाया वाला, सया- सदा, बहूणं- बहुत से पक्षी आदि प्राणियों को, बहु-गुणे- बहुत ही लाभ पहुँचाने वाला, मणोरमे- चित्त को प्रसन्न करने वाला मनोरम एक, वच्छे- वृक्ष था ॥११॥

वाएण हीर-माणम्मि, चेइयम्मि मणोरमे।

दुहिया असरणा अत्ता, एए कंदंति भो! खगा ॥१०॥

भो- हे विप्र! मणोरमे- वह मनोरम नाम वाला, चेइय- वृक्ष, वाएण- जब वायु से, हीर-माणम्मि- उखड़ गया, तब उस पर निवास करने वाले, एए- ये, खगा- पक्षी, दुहिया- दुखी, असरणा- अशरण और, अत्ता- पीड़ित होकर, कंदंति- आक्रन्दन कर रहे हैं ॥१०॥

भावार्थ- जिस प्रकार वृक्ष के गिर जाने पर, पक्षी अपने स्वार्थ का नाश हो जाने के कारण उस वृक्ष के लिये रोते चिल्लाते हैं, परन्तु वृक्ष को उनके रोने में कारण नहीं बनाया जा सकता और न उसे इसके लिए दोषी ही ठहराया जा सकता है, इसी प्रकार मेरे दीक्षा लेने पर मिथिला के लोग अपने स्वार्थ के नष्ट हो जाने के कारण विलाप करते हैं। वास्तव में इनका विलाप अपने स्वार्थ के लिए है, मेरे लिए नहीं। अतएव इन कोलाहल पूर्ण शब्दों के लिये मुझे उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता।

एयमट्टं निसामित्ता, हेऊ-कारण-चोइओ।

तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥११॥

तओ- तब अर्थात् नमिराजर्षि के उत्तर देने के बाद, एयं- पूर्वोक्त, अट्ठं- अर्थ, निसामित्ता- सुनकर, हेऊ-कारण-चोइओ- हेतु और कारण से प्रेरित हुए, देविंदो- देवेन्द्र ने, नमिं रायरिसिं- नमिराजर्षि से, इणं- यह, अब्बवी- कहा ॥११॥

एस अग्गी य वाऊ य, एयं डज्झइ मंदिरं।

भयवं! अंतेउरं तेणं, कीस णं नाव-पेक्खह ॥१२॥

वाऊ- वायु से प्रेरित हुई, एस- यह, अग्गी- अग्नि, एयं- आपके इस, मंदिरं- भवन को, डज्झइ- जला रही है, तेणं- अतः, भयवं- हे भगवन्! आप अपने, अंतेउरं- अन्तःपुर की ओर, कीस णं- क्यों, नाव-पेक्खह- नहीं देखते हैं? ॥१२॥

एयमट्टं निसामित्ता, हेऊ-कारण-चोइओ।

तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥१३॥

इस गाथा का शब्दार्थ आठवीं गाथा के समान है। नमिराजर्षि इंद्र के प्रश्न का उत्तर देते हैं ॥१३॥

सुहं वसामो जीवामो, जेसिं मो नत्थि किंचणं।

मिहिलाए डज्झ-माणीए, न मे डज्झइ किंचणं ॥१४॥

हे ब्राह्मण! जेसिं- इनमें, मो- हमारी, किंचणं- कोई वस्तु, नत्थि- नहीं है इसलिए, सुहं वसामो- मैं सुखपूर्वक रहता हूँ और, जीवामो- सुखपूर्वक ही जीता हूँ। मिहिलाए- मिथिला नगरी के, डज्झ-माणीए- जल जाने पर, मे- मेरा, किंचणं- कुछ भी, न डज्झइ- नहीं जलता है ॥१४॥

भावार्थ- आत्मा अकेली है। अकेली ही जन्म धारण करती है और अकेली ही मरती है। वस्तुतः अन्तःपुर आदि कुछ भी मेरा नहीं है और न मेरा इनमें ममत्व ही रहा हुआ है। इसलिए मिथिला नगरी के जलने पर मेरा कुछ भी नहीं जलता।

नमिराजर्षि की सांसारिक पदार्थों में निर्ममत्व भाव की परीक्षा करने के लिए इंद्र ने यह प्रश्न किया है, जिसका उपरोक्त उत्तर देकर नमिराजर्षि ने यह स्पष्ट कहा है कि इन सांसारिक पदार्थों में मेरा किंचित् मात्र भी मोह और ममत्व नहीं है।

चत्त-पुत्त-कलत्तस्स, निव्वा-वारस्स भिक्खुणो।

पियं न विज्जई किंचि, अप्पियं पि न विज्जइ ॥१५॥

चत्त-पुत्त-कलत्तस्स- पुत्र और स्त्रियों का त्याग करने वाले, निव्वा-वारस्स- कृषि पशु पालन आदि सभी प्रकार के व्यापार से निवृत्त, भिक्खुणो- साधु के लिये, न- न तो, किंचि- कोई वस्तु, पियं- प्रिय, विज्जइ- है और, न- न, अप्पियं पि- अप्रिय ही, विज्जइ- है अर्थात् भिक्षु का सभी वस्तुओं में समभाव रहता है ॥१५॥

बहुं खु मुणिणो भदं, अणगारस्स भिक्खुणो।

सव्वओ विप्पमुक्कस्स, एगंतं-मणुपस्सओ ॥१६॥

सव्वओ- सभी प्रकार के बाह्य और आभ्यन्तर बन्धनों से, विप्पमुक्कस्स- मुक्त होकर, एगंतं- 'मैं अकेला हूँ, मेरा कोई भी नहीं है' इस प्रकार एकत्व-भावना का, अणुपस्सओ- विचार करने वाले तथा, भिक्खुणो-

भिक्षा से निर्वाह करने वाले, अणगारस्स- गृहत्यागी, मुणिणो- साधु के लिए, खु- निश्चय ही, बहुं- बहुत, भद्दं- कल्याण (सुख) है ॥16॥

एयमट्टं निसामित्ता, हेऊ-कारण-चोइओ।

तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥१७॥

शब्दार्थ ग्यारहवीं गाथा के समान है। इन्द्र, नमिराजर्षि से कहते हैं:-

पागारं कारइत्ताणं, गोपुर-ट्टालगाणि य।

उस्सूलग-सयग्घीओ, तओ गच्छसि खत्तिया ॥१८॥

खत्तिया- हे क्षत्रिय! पागारं- प्राकार (कोट) य- और, गोपुर-ट्टालगाणि- दरवाजे तथा अट्टालिका अर्थात् कोट पर युद्ध करने के लिये बुर्ज, उस्सूलग-कोट के चारों और खाई और, सयग्घीओ- सैंकड़ों शत्रुओं का हनन करने वाली तोप आदि यंत्र, कारइत्ताणं- करवाकर, तओ- उसके बाद, गच्छसि- तुम दीक्षित होना ॥18॥

एयमट्टं निसामित्ता, हेऊ-कारण-चोइओ।

तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥१९॥

शब्दार्थ आठवीं गाथा के समान है। नमिराजर्षि, इन्द्र से कहते हैं:-

सद्धं नगरं किच्चा, तव-संवर-मगगलं।

खत्तिं निउण-पागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसयं ॥२०॥

सद्धं- श्रद्धा रूप, नगरं- नगर, खत्तिं- क्षमा आदि दस धर्म रूप, निउण-पागारं- दृढ़ कोट और, तव-संवरं- तप संवर रूप, अगगलं- अर्गला (भोगल) किच्चा- बनाकर, दुप्पधंसयं- कर्म रूप शत्रुओं से दुर्जेय, तिगुत्तं- तीन गुप्तियों से उस कोट की रक्षा करनी चाहिए ॥20॥

भावार्थ- नमिराजर्षि कहते हैं कि हे विप्र! मैंने श्रद्धा रूप नगर बनाया है। प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्था ये पाँच उस नगर के द्वार हैं। क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दस धर्म रूपी दृढ़ कोट बनाये हैं। अनशन आदि छह प्रकार का बाह्य तप तथा आश्रवनिरोध रूप संवर को उसके लिए आगल सहित किंवाड़ बनाये हैं। मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति रूप बुर्ज खाई और तोपें तैयार की हैं। इस प्रकार मेरा नगर दुर्जेय है। कर्मरूपी शत्रु मेरे नगर में प्रवेश नहीं कर सकते।

धणुं परक्कमं किच्चा, जीवं च इरियं सया।

धिइं च केयणं किच्चा, सच्चेण पलिमंथए ॥२१॥

उक्त नगर की रक्षा के लिये साधु को, सया- सदा, परक्कमं- पराक्रम रूपी, धणुं- धनुष, य- और, इरियं- ईर्यासमिति को, जीवं- धनुष की डोरी, किच्चा- बनाकर, य- और, धिइं- धीरज को, केयणं- केतन अर्थात् धनुष के मध्य में पकड़ने की काष्ठ की मुठिया, किच्चा- करके सत्य द्वारा उसे, पलिमंथए- बाँधना चाहिए ॥21॥

तव-नारायजुत्तेणं, भेत्तूणं कम्म-कंचुयं ।

मुणी विगय-संगामो, भवाओ परिमुच्चए ॥२२॥

उक्त पराक्रम रूप धनुष में, तव-नारायजुत्तेणं- तप रूप बाण चढ़ाकर और कम्म-कंचुयं- कर्म रूप कवच का, भेत्तूणं- भेदन करके, मुणी- मुनि, विगय-संगामो- संग्राम से निवृत्त होकर, भवाओ- संसार से, परिमुच्चए- मुक्त हो जाता है ॥22॥

भावार्थ- नमिराजर्षि कहते हैं कि हे ब्राह्मण! कर्मरूपी शत्रुओं का नाश करने के लिए मैंने पराक्रम रूपी धनुष पर छह प्रकार का आभ्यन्तर तप रूपी बाण चढ़ा रखा है। कर्मशत्रुओं का नाश करने पर फिर कोई युद्ध करना शेष नहीं रहता। फिर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्ति हो जाती है, इसलिए हे ब्राह्मण! जो तुमने कोट-किले आदि बनाने का कहा है, वे सब मैंने पहले ही बना रखे हैं। इस प्रकार के कोट-किलों से शारीरिक और मानसिक समस्त दुखों से शीघ्र मुक्ति हो सकती है किन्तु तुम्हारे कथनानुसार कोट-किले आदि बनवाने से मुक्ति नहीं हो सकती।

एयमट्टं निसामित्ता, हेऊ-कारण-चोइओ।

तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥२३॥

शब्दार्थ ग्यारहवीं गाथा के समान है। इन्द्र, नमिराजर्षि से कहते हैं:-

पासाए कारइत्ताणं, वद्ध-माण-गिहाणि य।

वालगग-पोइयाओ य, तओ गच्छसि खत्तिया ॥२४॥

खत्तिया- हे क्षत्रिय!, पासाए- प्रासाद (भवन), य- और, वद्ध-माण-गिहाणि- अनेक प्रकार के छोटे बड़े घर, य- और, वालगग-पोइयाओ- जल-क्रीड़ा करने के लिए तालाब के बीच में क्रीड़ागृह आदि, कारइत्ताणं- बनवाकर, तओ- उसके बाद, गच्छसि- प्रव्रज्या धारण करना तुम्हें योग्य है ॥24॥

एयमट्टं निसामित्ता, हेऊ-कारण-चोइओ।

तओ नमी रायरिसी देविंदं इणमब्बवी ॥२५॥

शब्दार्थ आठवीं गाथा के समान है। नमिराजर्षि, इंद्र को उत्तर देते हैं:-

संसयं खलु सो कुणइ, जो मग्गे कुणइ घरं।

जत्थेव गंतु-मिच्छेज्जा, तत्थ कुव्वेज्ज सासयं॥२६॥

जो- जो पुरुष, **संसयं-** संशय, **कुणइ-** करता है कि 'मैं गन्तव्य स्थान तक पहुंचूँगा या नहीं', **सो खलु-** वही पुरुष, **मग्गे-** मार्ग में, **घरं-** घर, **कुणइ-** बनाता है, किन्तु मेरे मन में सन्देह नहीं है, क्योंकि सम्यग् ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूप रत्न-त्रय से अवश्य मोक्ष होता है, ऐसा मुझे निश्चय है और मैं इसका पालन कर रहा हूँ। मेरा निश्चित स्थान मोक्ष है। बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि, **जत्थेव-** जहाँ पर, **गंतुं-** जाने की, **इच्छेज्जा-** इच्छा हो, **तत्थ-** वहीं पर, **सासयं-** अपना स्थायी घर, **कुव्वेज्ज-** बनावे॥२६॥

भावार्थ- नमिराज ब्राह्मण से कहते हैं कि आपने मझे विविध प्रासाद आदि बनाने के लिये कहा किन्तु मेरा यहाँ रहना तो मार्ग के पड़ाव के समान है। मेरा गन्तव्य शाश्वत स्थान तो मुक्ति है। रास्ते में पड़ाव के स्थान पर घर बनाना बुद्धिमत्ता नहीं है। बुद्धिमान को तो अपने इष्ट स्थान पर पहुँचकर घर बनाना चाहिए, जहाँ उसे सदा रहना है।

एयमट्टं निसामित्ता, हेऊ-कारण-चोइओ।

तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी॥२७॥

शब्दार्थ ग्यारहवीं गाथा के समान है। इंद्र, नमिराजर्षि से कहते हैं:-

आमोसे लोमहारे य, गंठिभेए य तक्करे।

नगरस्स खेमं काऊणं, तओ गच्छसि खत्तिया॥२८॥

आमोसे- डाका डालने वाले, **य-** और, **लोमहारे-** निर्दयता पूर्वक लोगों को मारकर उनका सर्वस्व लूटने वाले, **गंठिभेए-** गाँठ कतरने वाले, **य-** और, **तक्करे-** चोर (गुप्त रूप से धन हरण करने वाले) इनको दण्ड द्वारा वश में करके और इनसे, **नगरस्स-** नगर की, **खेमं-** सुरक्षा, **काऊणं-** करके, **खत्तिया-** हे क्षत्रिय! **तओ-** इसके बाद, **गच्छसि-** तुम दीक्षा लेना ॥२८॥

एयमट्टं निसामित्ता, हेऊ-कारण-चोइओ।

तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥२९॥

शब्दार्थ आठवीं गाथा के समान है। नमिराजर्षि, इंद्र से कहते हैं:-

असइं तु मणुस्सेहिं, मिच्छा-दंडो पउंजई।

अकारिणोऽत्थ बज्झंति, मुच्चई कारओ जणो ॥३०॥

अत्थ- इस लोक में, **मणुस्सेहिं-** मनुष्यों से, **असइं-** अनेक बार, **मिच्छा-दंडो-** मिथ्या दंड का, **पउंजइ-** प्रयोग किया जाता है अर्थात् अज्ञानादि वश लोग निरपराधी को दण्ड देते हुए दिखाई देते हैं, **अकारिणो-** अपराध न करने वाले निर्दोष व्यक्ति, **बज्झंति-** बाँधे जाते हैं, **तु-** और, **कारओ-** अपराध करने वाला, **जणो-** पुरुष, **मुच्चई-** छोड़ दिया जाता है ॥३०॥

एयमट्टं निसामित्ता, हेऊ-कारण-चोइओ।

तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥३१॥

शब्दार्थ ग्यारहवीं गाथा के समान है। इंद्र, नमिराजर्षि से कहता है:-

जे केइ पत्थिवा तुज्झं, नाणमंति नराहिवा।

वसे ते ठावइत्ताणं, तओ गच्छसि खत्तिया! ॥३२॥

नराहिवा- हे नरेन्द्र! **जे-** जो, **केइ-** कोई, **पत्थिवा-** राजा तुम्हारी अधीनता स्वीकार कर, **तुज्झं-** तुम्हें, **नाणमंति-** नमन नहीं करते, **ते-** उन्हें, **वसे-** वश में, **ठावइत्ताणं-** करके, **खत्तिया-** हे क्षत्रिय! **तओ-** इसके बाद, **गच्छसि-** तुम प्रव्रज्या धारण करना ॥३२॥

भावार्थ- नमिराजर्षि के अन्तःकरण में द्वेष है या नहीं, इस बात की परीक्षा करने के लिए इंद्र ने प्रश्न किया है कि हे राजन्! जो राजा तुम्हारी आज्ञा नहीं मानते, उन्हें वश में करने के पश्चात् दीक्षा लेना तुम्हें योग्य है। अन्यथा वे शत्रु राजा तुम्हारे राज्य को छिन्न-भिन्न कर देंगे अथवा तुम्हारे पुत्र को अपने अधीन बना लेंगे। इससे अच्छा यही है कि तुम पहले शत्रु राजाओं को अपने वश में कर लो, क्योंकि भरत आदि राजाओं ने भी शत्रुओं को अपने वश में करने के पश्चात् दीक्षा ली थी। अतः तुम्हें भी ऐसा ही करना चाहिए।

एयमट्टं निसामित्ता, हेऊ-कारण-चोइओ।

तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥३३॥

शब्दार्थ आठवीं गाथा के समान है। नमिराजर्षि, इंद्र से कहते हैं:-

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।

एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥३४॥

जो- जो पुरुष, **दुज्जए-** दुर्जय, **संगामे-** संग्राम में, **सहस्साणं सहस्सं-** दस लाख सुभटों पर, **जिणे-** विजय प्राप्त करता है और, **एगं-** एक महात्मा, **अप्पाणं-** अपनी आत्मा को, **जिणेज्ज-** जीतता है। इन दोनों में, **से-** उस महात्मा की, **एस-** यह, **जओ-** विजय ही, **परमो-** श्रेष्ठ विजय है।

भावार्थ- अन्य शत्रु राजाओं को जीतने की अपेक्षा आत्मा का जीतना ही वीरता है; जिसने दूसरों को जीत लिया, किन्तु अपनी आत्मा को नहीं जीता, वह सच्चा वीर नहीं हैं क्योंकि विषय-कषायादि में प्रवृत्त हुई आत्मा ही दुःख का कारण है, दूसरे पदार्थ नहीं।

अप्याणमेव जुङ्गाहि, किं ते जुङ्गेण बज्झओ।

अप्याणमेव अप्याणं, जइत्ता सुहमेहए ॥३५॥

अप्याणमेव- आत्मा के साथ ही, **जुङ्गाहि-** युद्ध करना चाहिए, **बज्झओ-** बाहर के, **जुङ्गेण-** युद्ध से, **ते-** तुम्हें, **किं-** क्या लाभ है? **अप्याणमेव-** केवल अपनी आत्मा द्वारा, **अप्याणं-** आत्मा को, **जइत्ता-** जीतने से, **सुहं-** सच्चा सुख, **एहए-** प्राप्त होता है ॥३५॥

पंचिंदियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोहं च।

दुज्जयं चैव अप्याणं, सव्वमप्ये जिए जियं ॥३६॥

पंचिंदियाणि- पाँच इन्द्रियाँ, **कोहं-** क्रोध, **माणं-** मान, **मायं-** माया, **च-** और, **तहेव-** इसी प्रकार, **लोहं-** लोभ, **चैव-** तथा, **दुज्जयं-** दुर्जय, **अप्याणं-** आत्मा, **सव्वं-** ये सब, **अप्ये-** अपनी आत्मा को, **जिए-** जीत लेने पर, **जियं-** स्वतः जीत लिए जाते हैं ॥३६॥

एयमट्टं निसामित्ता, हेऊ-कारण-चोइओ।

तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥३७॥

शब्दार्थ ग्यारहवीं गाथा के समान है। इंद्र, नमिराजर्षि से कहते हैं:-

जइत्ता विउले जण्णे, भोइत्ता समण-माहणे।

दच्चा भोच्चा य जिट्टा य, तओ गच्छसि खत्तिया ॥३८॥

खत्तिया- हे क्षत्रिय!, **विउले-** बड़े-बड़े, **जण्णे-** महा यज्ञ, **जइत्ता-** करवा कर, **समण-माहणे-** श्रमण और ब्राह्मणों को, **भोइत्ता-** भोजन कराकर, **दच्चा-** दान देकर, **य-** और, **भोच्चा-** भोग-भोग कर, **य-** तथा, **जिट्टा-** स्वयं यज्ञ करके, **तओ-** उसके बाद, **गच्छसि-** दीक्षा धारण करना तुम्हें योग्य है ॥३८॥

एयमट्टं निसामित्ता, हेऊ-कारण-चोइओ।

तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥३९॥

शब्दार्थ आठवीं गाथा के समान है। नमिराजर्षि, इंद्र से कहते हैं:-

जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए।

तस्सावि संजमो सेओ, अदिंतस्स वि किंचणं ॥४०॥

जो- जो पुरुष, **मासे मासे-** प्रति मास, **सहस्साणं-सहस्सं-** दस लाख, **गवं-** गायों का, **दए-** दान करता है, **तस्सावि-** उसकी अपेक्षा, **किंचणं-** कुछ, **वि-** भी, **अदिंतस्स-** दान नहीं करने वाले मुनि का, **संजमो-** संयम, **सेओ-** अधिक श्रेष्ठ है ॥४०॥

एयमट्टं निसामित्ता, हेऊ-कारण-चोइओ।

तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥४१॥

ग्यारहवीं गाथा के समान शब्दार्थ है। इंद्र, नमिराजर्षि से कहता है:-

घोरासमं चइत्ताणं, अण्णं पत्थेसि आसमं।

इहेव पोसह-रओ, भवाहि मणुयाहिवा ॥४२॥

मणुयाहिवा- मनुष्यों के अधिपति हे राजन्! आप, **घोरासमं-** घोर गृहस्थाश्रम का, **चइत्ताणं-** त्यागकर, **अण्णं-** अन्य सन्यास, **आसमं-** आश्रम की, **पत्थेसि-** इच्छा कर रहे हैं, यह आप जैसे वीर क्षत्रियों के योग्य नहीं है। **इहेव-** आप यहीं गृहस्थाश्रम में रहकर ही, **पोसह-रओ-** पौषध आदि व्रतों में रत, **भवाहि-** रहो ॥४२॥

भावार्थ- गृहस्थाश्रम छोड़कर सन्यास लेने की अपेक्षा आपके लिए यह अधिक उपयुक्त होगा कि आप गृहस्थावास में रहकर ही पौषध आदि धर्मानुष्ठानों का आचरण करें।

एयमट्टं निसामित्ता, हेऊ-कारण-चोइओ।

तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥४३॥

शब्दार्थ आठवीं गाथा के समान है। नमिराजर्षि, इंद्र से कहते हैं:-

मासे मासे उ जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजए।

न सो सुअक्खाय-धम्मस्स, कलं अगघइ सोलसिं ॥४४॥

जो- जो, **बालो-** अज्ञानी पुरुष, **मासे मासे-** प्रति मास यानी एक-एक मास का अनशन कर पारणे के दिन, **कुसग्गेणं तु-** कुशाग्र परिमाण, **भुंजए-** आहार करता है, **सो-** वह पुरुष, **सुअक्खाय-धम्मस्स-** तीर्थकर देव द्वारा प्ररूपित चारित्र धर्म की, **सोलसिं-** सोलहवीं **कलं-** कला के, **न अगघइ-** समान भी नहीं है ॥४४॥

भावार्थ- जिसमें साधु धर्म स्वीकार करने की शक्ति न हो, उसी को गृहस्थाश्रम धर्म ग्रहण करने की आज्ञा है, परन्तु साधु धर्म के आगे

गृहस्थाश्रम का त्याग अत्यन्त न्यून है।

एयमदृं निसामित्ता, हेऊ-कारण-चोइओ।

तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥४५॥

ग्यारहवीं गाथा के समान शब्दार्थ है। इंद्र, नमिराजर्षि से कहते हैं:-

हिरण्णं सुवण्णं मणि-मुत्तं, कंसं दूसं च वाहणं ।

कोसं वड्ढावइत्ताणं, तओ गच्छसि खत्तिया ॥४६॥

हिरण्णं- स्वर्ण के आभूषण, सुवण्णं- सोना, मणि-मुत्तं- मणि और मोती, कंसं- काँसी के बरतन, दूसं- वस्त्र, च- और, वाहणं- हाथी-घोड़ा रथ आदि वाहन, च- तथा, कोसं- भण्डार इन्हें, वड्ढावइत्ताणं- बढ़ाकर, खत्तिया- हे क्षत्रिय!, तओ- उसके बाद, गच्छसि- तुम प्रव्रज्या धारण करना ॥४६॥

एयमदृं निसामित्ता, हेऊ-कारण-चोइओ।

तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥४७॥

शब्दार्थ आठवीं गाथा के समान है। नमिराजर्षि, इंद्र से कहते हैं:-

सुवण्ण-रुप्पस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया।

नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ॥४८॥

सिया- यदि, केलाससमा- कैलाश पर्वत के समान, सुवण्ण-रुप्पस्स- सोने चाँदी के, असंखया- असंख्य, पव्वया- पर्वत, भवे- हों, उ- फिर भी, लुद्धस्स- लोभी, नरस्स- मनुष्य को, तेहिं- उन पर्वतों से भी, न किंचि- कुछ संतोष नहीं होता। हु- निश्चय ही, इच्छा- इच्छा, आगाससमा- आकाश के समान, अणंतिया- अनन्त है ॥४८॥

भावार्थ- धन परिमित है और इच्छा अनन्त है, इसलिए उसका पूर्ण होना असंभव है। केवल संतोष धारण करने से ही इच्छा की निवृत्ति हो सकती है।

पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह।

पडिपुण्णं नाल-मेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥४९॥

साली- चाँवल, जवा- जौ, चेव- और, हिरण्णं- सोना तथा, पसुभिस्सह- पशुओं आदि से, पडिपुण्णं- परिपूर्ण, पुढवी- यह सारी पृथ्वी, एगस्स- यदि किसी एक व्यक्ति को दे दी जाय तो भी, नालं- उसकी इच्छा पूर्ण होना कठिन है, इइ- इस प्रकार, विज्जा- जानकर बुद्धिमान पुरुष, तवं- तप का,

चरे- आचरण करे ॥४९॥

एयमदृं निसामित्ता, हेऊ-कारण-चोइओ।

तओ नमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥५०॥

शब्दार्थ ग्यारहवीं गाथा के समान है। इंद्र, नमिराजर्षि से कहते हैं:-

अच्छेरग-मब्भुदए, भोए चयसि पत्थिवा!।

असंते कामे पत्थेसि, संकप्पेण विहम्मसि ॥५१॥

पत्थिवा- हे राजन्! अच्छेरगं- आश्चर्य है कि आप, अब्भुदए- प्राप्त हुए इन अद्भुत, भोए- भोगों को, चयसि- छोड़ रहे हैं और, असंते- अविद्यमान, कामे- दिव्य काम-भोगों की, पत्थेसि- अभिलाषा कर रहे हैं। कहीं ऐसा न हो कि अदृष्ट भोगों के न मिलने से, संकप्पेण- संकल्प-विकल्पों के वशीभूत होकर, विहम्मसि- तुम्हें पश्चाताप करना पड़े ॥५१॥

एयमदृं निसामित्ता, हेऊ-कारण-चोइओ।

तओ नमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥५२॥

शब्दार्थ आठवीं गाथा के समान है। नमिराजर्षि, इंद्र से कहते हैं:-

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसी-विसोवमा।

कामे य पत्थेमाणा, अकामा जंति दुग्गइं ॥५३॥

कामा- काम-भोग, सल्लं- शल्य रूप हैं। कामा- काम-भोग, विसं- विष रूप हैं। कामा- काम-भोग, आसी-विसोवमा- आशीविष सर्प के समान है। कामे- काम-भोगों की, पत्थेमाणा- अभिलाषा करने वाले पुरुष, अकामा- काम-भोग का सेवन करते हुए भी केवल संकल्प मात्र से ही, दुग्गइं- दुर्गति, जंति- प्राप्त करते हैं ॥५३॥

भावार्थ- नमिराजर्षि कहते हैं कि हे ब्राह्मण! जैसे शरीर में लगा हुआ शल्य (बाण का अग्रभाग) दुःख देता है, इसी प्रकार ये काम-भोग दुःखदायी हैं। जैसे तालपुट विष खाने में मीठा लगता है, किन्तु अन्त में मृत्यु के मुख में पहुँचा देता है, इसी प्रकार ये कामभोग, भोगते समय मनोहर प्रतीत होते हैं, किन्तु अन्त में अनेक दुःखों को उत्पन्न करते हैं। जैसे विषधर सर्प फण ऊंचा करके नाचते समय अच्छा मालूम होता है, परन्तु डस लेने पर प्राण संकट में पड़ जाते हैं। इसी प्रकार कामभोग पहले तो मनोहर और सुखप्रद मालूम होते हैं, किन्तु सेवन करने के बाद अनेक भयंकर दुःख देते हैं। ऐसे काम-भोगों का सेवन करना तो दूर रहा, किन्तु इनकी इच्छा करने से ही

मनुष्य नरक आदि दुर्गतियों को प्राप्त होता है इसलिए हे विप्र! मैंने उत्तम काम-भोग पाने की इच्छा से वर्तमान में प्राप्त हुए भोगों का त्याग नहीं किया है, किन्तु वर्तमान और भावी विषयों में निस्पृह होकर विषय-भोग का त्याग किया है। मुमुक्षु को किसी भोग-पदार्थ की अभिलाषा नहीं होती।

अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई।

माया गई-पडिग्घाओ, लोहाओ दुहओ भयं ॥५४॥

कोहेणं- क्रोध करने से जीव, **अहे-** नरक गति में, **वयइ-** जाता है, **माणेणं-** मान से, **अहमा-** नीच, **गई-** गति प्राप्त होती है। **माया-** माया से, **गई-पडिग्घाओ-** शुभ गति का नाश होता है और, **लोहाओ-** लोभ से, **दुहओ-** इस लोक और परलोक में, **भयं-** भय प्राप्त होता है ॥54॥

अवउज्झिऊण माहणरूवं, विउव्विऊण इंदत्तं।

वंदइ अभित्थुणंतो, इमाहिं महुराहिं वग्गूहिं ॥५५॥

इस प्रकार दस प्रश्न करके अनेक उपायों से जब देवेन्द्र, नमिराजर्षि को अपने धर्म से लेश मात्र भी नहीं डिगा सका तब देवेन्द्र ने, **माहणरूवं-** ब्राह्मण का रूप, **अवउज्झिऊण-** त्याग दिया और **विउव्विऊण-** विक्रिया द्वारा, **इंदत्तं-** अपना इंद्र का रूप बनाकर, **इमाहिं-** इन आगे कहे जाने वाले, **महुराहिं-** मधुर, **वग्गूहिं-** वचनों से, **अभित्थुणंतो-** नमिराज की स्तुति करता हुआ, **वंदइ-** वन्दना नमस्कार करने लगा ॥55॥

अहो! ते निज्जिओ कोहो, अहो माणो पराजिओ।

अहो! ते निरक्किया माया, अहो! लोहो वसीकओ ॥५६॥

हे नमिराज! **अहो-** आश्चर्य है कि, **ते-** आपने, **कोहो-** क्रोध को, **निज्जिओ-** जीत लिया है, **अहो-** आश्चर्य है कि आपने, **माणो-** मान को, **पराजिओ-** पराजित कर दिया है, **अहो-** आश्चर्य है कि, **ते-** आपने, **माया-** माया को, **निरक्किया-** दूर कर दिया है, **अहो-** आश्चर्य है कि, **ते-** आपने, **लोहो-** लोभ को, **वसीकओ-** वश में कर लिया है ॥56॥

भावार्थ- इन्द्र नमिराजर्षि से कहने लगा कि हे भगवन्! मुझे आश्चर्य होता है कि आपने प्रबल क्रोध को जीत लिया है, क्योंकि मैंने पहले आपको शत्रु राजाओं को वश में करने के लिए कहा था, किन्तु आपने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया कि आत्मा को वश में करना ही सर्वोत्तम है, दूसरों को वश में करने से कोई लाभ नहीं होता। अतएव मुझे निश्चय हो गया है कि आपने क्रोध

-शत्रु को जीत लिया है। हे नमिराज! मुझे आश्चर्य होता है कि आपने मान (अहंकार) को भी जीत लिया है। मैंने आपसे कहा था कि आपके अन्तःपुर तथा महल आदि को अग्नि भस्म कर रही है, इसको शान्त करना आपका कर्तव्य है। इस बात को सुनकर आपको यह अहंकार नहीं आया कि मेरे जीते जी मेरे अन्तःपुर आदि को कौन जला सकता है। किन्तु आपने इसका शान्तिपूर्वक उत्तर दिया कि मेरा ज्ञान-दर्शन-चारित्र मेरे पास है। नगर में मेरा कुछ भी नहीं है। आपके इस उत्तर को सुनकर मुझे निश्चय हो गया है कि आपमें अहंकार नहीं है। महात्मन्! मुझे आश्चर्य होता है कि आपने माया का भी तिरस्कार कर दिया है, क्योंकि नगर की रक्षा के लिए कोट किला आदि बनाने के लिए मैंने आपसे कहा था, किन्तु आपने कहा कि धर्म की ही रक्षा करनी चाहिए। इससे मुझे निश्चय हो गया कि आप माया-रहित हैं। हे महात्मन्! मुझे आश्चर्य होता है कि आपने लोभ का भी नाश कर दिया है, क्योंकि मैंने आपसे कहा था कि मणि, मोती, सोना, चाँदी आदि से कोष की वृद्धि करने के पश्चात् दीक्षा लेनी चाहिए। आपने उत्तर दिया कि तृष्णा आकाश के समान अनन्त है, इसका पूर्ण होना असंभव है। एक संतोष ही तृष्णा को पूर्ण कर सकता है। इससे मुझे निश्चय हो गया कि आपने लोभ को भी जीत लिया है। उपरोक्त उत्तरों से मुझे दृढ़ विश्वास हो गया है कि आपने क्रोध, मान, माया और लोभ- इन चारों को जीत लिया है।

अहो! ते अज्जवं साहु, अहो! ते साहु मद्दवं ।

अहो! ते उत्तमा खंती, अहो! ते मुत्ति उत्तमा ॥५७॥

अहो- अहो, **ते-** आपकी, **अज्जवं-** ऋजुता-सरल स्वभाव, **साहु-** श्रेष्ठ है। **अहो-** अहो, **ते-** आपकी, **मद्दवं-** मृदुता-निरभिमानता, **साहु-** श्रेष्ठ है। **अहो-** अहो, **ते-** आपकी, **खंती-** क्षमा, **उत्तमा-** उत्तम है और **अहो-** अहो, **ते-** आपकी, **मुत्ति-** निर्लोभता, **उत्तमा-** उत्तम है। ॥57॥

इहं सि उत्तमो भंते, पेच्चा होहिसि उत्तमो।

लोगुत्त-मुत्तमं ठाणं, सिद्धिं गच्छसि नीरओ ॥५८॥

भंते- हे भगवन्! **इहं-** इस लोक में, **उत्तमो-** आप उत्तम, **सि-** हैं (और) **पेच्चा-** पर लोक में, **उत्तमो-** उत्तम, **होहिसि-** होंगे। **नीरओ-** कर्मरज रहित होकर आप, **लोगुत्त-मुत्तमं-** लोक में उत्तमोत्तम (सर्वोत्तम), **सिद्धिं-** सिद्धि, **ठाणं-** स्थान में, **गच्छसि-** जाएंगे। ॥58॥

एवं अभित्युणंतो, रायरिसिं उत्तमाए सद्भाए।

पयाहिणं करंतो, पुणो पुणो वंदई सक्को ॥५९॥

एवं- इस प्रकार, सक्को- इन्द्र, उत्तमाए- उत्तम, सद्भाए- श्रद्धा और भक्तिपूर्वक, रायरिसिं- नमिराजर्षि की, अभित्युणंतो- स्तुति करता हुआ (और), पयाहिणं- प्रदक्षिणा, करंतो- करता हुआ, पुणो पुणो- बार-बार, वंदई- (उन्हें) वन्दना नमस्कार करने लगा ॥59॥

तो वंदिरुण पाए, चक्कंकुसलक्खणे मुणिवरस्सा।

आगासेणु-प्पइओ, ललिय-चवल-कुंडल-तिरीडी॥६०॥

तो- इसके बाद, ललिय-चवल-कुंडल-तिरीडी- सुंदर और चपल कुंडल तथा मुकुट धारण करने वाला इंद्र, मुणिवरस्स- मुनिवर नमिराज के, चक्कंकुसलक्खणे- चक्र एवं अंकुश चिह्न वाले, पाए- चरणों में, वंदिरुण- वन्दना कर, आगासेण- आकाश मार्ग से, उप्पइओ- ऊपर देवलोक में चला गया ॥60॥

नमी नमेइ अप्पाणं, सक्खं सक्केण चोइओ।

चइरुण गेहं वइदेही, सामण्णे पज्जुवट्ठओ ॥६१॥

गेहं- घरबार कुटुम्ब एवं राज्यादि को, चइरुण- छोड़कर, सामण्णे पज्जुवट्ठओ- श्रमण बने हुए, वइदेही- विदेह देश के अधिपति, नमी- नमिराजर्षि की, सक्खं- साक्षात्, सक्केण- इंद्र ने, चोइओ- परीक्षा की, किन्तु वे संयम से लेशमात्र भी विचलित नहीं हुए और साक्षात् इंद्र को अपने चरणों में वन्दना करते हुए देखकर भी उन्होंने गर्व नहीं किया, प्रत्युत, अप्पाणं- अपनी आत्मा को, नमेइ- विशेष नम्र बनाया ॥61॥

एवं करंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा।

विणियट्ठंति भोगेसु, जहा से नमी रायरिसी ॥६२॥

त्ति बेमि॥

संबुद्धा- तत्त्व को जानने वाले, पवियक्खणा- विचक्षण, पंडिया- पंडित पुरुष, एवं- नमिराजर्षि के समान, करंति- संयम पालने में निश्चल रहते हैं और, भोगेसु- कामभोगों से विणियट्ठंति- निवृत्त होते हैं, जहा- जैसे, से- वे, नमी रायरिसी- नमिराजर्षि भोग-विलास से निवृत्त हुए थे ॥62॥ त्ति बेमि- ऐसा मैं कहता हूँ।

॥नौवाँ अध्ययन पूर्ण॥

तत्त्व विभाग

1. संज्ञा का थोकड़ा

श्रीमत् प्रज्ञापना सूत्र के आठवें पद के आधार से संज्ञा का थोकड़ा चलता है सो कहते हैं-

संज्ञा* दस प्रकार की होती है- आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा, परिग्रह संज्ञा, क्रोध संज्ञा, मान संज्ञा, माया संज्ञा, लोभ संज्ञा, लोक संज्ञा और ओघ संज्ञा। जीव और चौबीस दण्डक में दस संज्ञाएँ पाई जाती हैं।

चार गति की अपेक्षा आहार आदि संज्ञाओं की अल्पबहुत्व इस प्रकार है-

नैरयिकों में-	मैथुन संज्ञा वाले	सबसे थोड़े
	उनसे आहार संज्ञा वाले	संख्यात गुणा
	उनसे परिग्रह संज्ञा वाले	संख्यात गुणा
	उनसे भय संज्ञा वाले	संख्यात गुणा
तिर्यञ्च में-	परिग्रह संज्ञा वाले	सबसे थोड़े
	उनसे मैथुन संज्ञा वाले	संख्यात गुणा
	उनसे भय संज्ञा वाले	संख्यात गुणा
	उनसे आहार संज्ञा वाले	संख्यात गुणा
मनुष्यों में-	भय संज्ञा वाले	सबसे थोड़े
	उनसे आहार संज्ञा वाले	संख्यात गुणा
	उनसे परिग्रह संज्ञा वाले	संख्यात गुणा
	उनसे मैथुन संज्ञा वाले	संख्यात गुणा
देवताओं में-	आहार संज्ञा वाले	सबसे थोड़े

* वेदनीय और मोह के उदय से तथा ज्ञानावरण दर्शनावरण के क्षयोपशम से होने वाली आहारादि की संवेदना को संज्ञा कहते हैं। इन दस संज्ञाओं में पहली आठ संज्ञाओं का अर्थ स्पष्ट है। सामान्य ज्ञान की क्रिया को ओघ संज्ञा और विशेष ज्ञान की क्रिया को लोक संज्ञा कहते हैं। कई आचार्य कहते हैं कि सामान्य प्रवृत्ति जैसे-बेल (लता) का बाड़ पर चढ़ना ओघ संज्ञा और लोक की स्वच्छंद रूप से कल्पित की गई लौकिक मान्यताओं को लोक संज्ञा कहते हैं जैसे कौओं को पितर मानना।

उनसे भय संज्ञा वाले संख्यात गुणा
 उनसे मैथुन संज्ञा वाले संख्यात गुणा
 उनसे परिग्रह संज्ञा वाले संख्यात गुणा

इसे याद रखने के लिए थोकड़े के जानकारों ने नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवों में संज्ञाओं का क्रम बतलाने के लिए यह शब्दावली (मा आ पी, पे मा भी, भ आ पी, आ भ मा संखेज्जगुणा अहिया भवति) जोड़ रखी है। इसमें संज्ञाओं के प्रथम तीन-तीन अक्षर क्रमशः नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति के लिये दिये हैं और शेष जो संज्ञा रहती है वह चौथी संज्ञा जानना चाहिए।

श्रीमत् स्थानांग सूत्र स्थान चार, उद्देशक चार के आधार से- आहार संज्ञा के चार कारण-

1. पेट खाली होने से
2. क्षुधा वेदनीय कर्म के उदय से
3. आहार की कथा सुनने एवं आहार को देखने से और
4. सदैव आहार का चिंतन करने से आहार संज्ञा उत्पन्न होती है।

भय संज्ञा के चार कारण-

1. शक्ति नहीं होने से
2. भय मोहनीय कर्म के उदय से
3. भय की बात सुनने और भयानक वस्तु को देखने से और
4. भय के कारणों का चिंतन करने से भय संज्ञा उत्पन्न होती है।

मैथुन संज्ञा के चार कारण-

1. शरीर में रक्त मांस की वृद्धि होने से
2. वेद मोहनीय कर्म के उदय से
3. काम कथा सुनने से और काम को देखने से और
4. मैथुन का चिंतन करने से मैथुन संज्ञा उत्पन्न होती है।

परिग्रह संज्ञा के चार कारण-

1. अति मूर्छा आसक्ति होने से
2. लोभ मोहनीय कर्म के उदय से

3. परिग्रह की बात सुनने से और परिग्रह को देखने से और
4. परिग्रह का चिंतन करने से परिग्रह संज्ञा उत्पन्न होती है।

नैरयिक से आये हुए जीव में भय संज्ञा अधिक होती है, तिर्यञ्च गति से आये हुए जीव में आहार संज्ञा अधिक होती है, मनुष्य गति से आये हुए जीव में मैथुन संज्ञा अधिक होती है और देवगति से आये हुए जीव में परिग्रह संज्ञा अधिक होती है।

नैरयिक से आये हुए जीव में क्रोध अधिक होता है, तिर्यञ्च गति से आये हुए जीव में माया अधिक होती है, मनुष्य गति से आये हुए जीव में मान अधिक होता है और देवगति से आये हुए जीव में लोभ अधिक होता है।

पहली आहार संज्ञा वेदनीय कर्म के उदय से, दूसरी से आठवीं तक सात संज्ञा मोह के उदय से, ओघ संज्ञा दर्शनावरण के क्षयोपशम भाव से और लोक संज्ञा ज्ञानावरण के क्षयोपशम भाव से होती है।

सेवं भंते! सेवं भंते!



2. आत्मारम्भी परारम्भी का थोकड़ा

श्रीमद् भगवती सूत्र शतक पहला उद्देशक पहले के आधार से आत्मारम्भी परारम्भी का थोकड़ा चलता है सो कहते हैं-

1. भंते! क्या जीव आत्मारम्भी* है या परारम्भी है या तदुभयारम्भी है या अनारम्भी है?

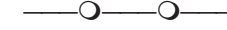
गौतम! जीव के दो भेद हैं-संसारसमापन्न यानि संसारी और असंसारसमापन्न यानि सिद्ध। सिद्ध भगवान न आत्मारम्भी है, न परारम्भी है, न तदुभयारम्भी है किन्तु अनारम्भी है। संसारी जीव के दो भेद हैं-संयति और असंयति। संयति के दो भेद हैं-प्रमादी और अप्रमादी। अप्रमादी संयति न आत्मारम्भी है न परारम्भी है न तदुभयारम्भी है किन्तु अनारम्भी है। प्रमादी के दो भेद हैं-शुभयोगी और अशुभयोगी। शुभयोगी न आत्मारम्भी है न परारम्भी है न तदुभयारम्भी है किन्तु अनारम्भी है।

अशुभयोगी आत्मारम्भी भी है, परारम्भी भी है, तदुभयारम्भी भी है किन्तु अनारम्भी नहीं है। असंयत और 23 दण्डक (मनुष्य को छोड़कर) अविरति की अपेक्षा आत्मारम्भी भी है, परारम्भी भी है तदुभयारम्भी भी है किन्तु अनारम्भी नहीं है। मनुष्य जीव की तरह कह देना चाहिए। किन्तु इतनी विशेषता है कि सिद्ध नहीं कहने चाहिए। 'सलेशी जीव' मनुष्य की तरह कहना। कृष्ण, नील, कापोत लेश्या वाले 21 दण्डक (मनुष्य को छोड़कर) अविरति की अपेक्षा आत्मारम्भी है, परारम्भी है, तदुभयारम्भी है, किन्तु अनारम्भी नहीं है। कृष्ण, नील, कापोत लेश्या वाले जीव एवं मनुष्य को मनुष्य की तरह कहना, नवरं प्रमादी एवं अप्रमादी, ये दो भेद नहीं करना। मनुष्य को छोड़कर तेजोलेशी के 17 दण्डक तथा पद्म, शुक्ल लेशी के

* आरम्भ का अर्थ है ऐसा सावद्य कार्य करना जिससे किसी जीव को कष्ट पहुँचता हो या उसके प्राणों का घात होता हो अथवा आश्रवद्वार में प्रवृत्ति करना आरम्भ कहलाता है। आत्मारंभ के दो अर्थ हैं-स्वयं का आरम्भ करना अथवा स्वयं से आरम्भ करना। जो ऐसा करता है वह आत्मारम्भी कहलाता है। दूसरे का आरम्भ करना या दूसरे के द्वारा आरम्भ कराना परारम्भ है, जो ऐसा करता है वह परारंभी कहलाता है। आत्मारम्भ और परारम्भ दोनों करने वाला जीव तदुभयारम्भी कहलाता है। जो जीव आत्मारम्भ, परारम्भ और तदुभयारम्भ से रहित होता है वह अनारम्भी कहलाता है।

2-2 दण्डक के जीव आत्मारम्भी है, परारम्भी है, तदुभयारम्भी है किन्तु अनारम्भी नहीं है। तेजो, पद्म, शुक्ल लेशी जीव तथा मनुष्य का वर्णन जीव के समान कहना, नवरं संसारी एवं सिद्ध ये दो भेद नहीं करना।

सेवं भंते! सेवं भंते!



3. रोगोत्पत्ति के कारण

शरीर में किसी प्रकार के विकार का उत्पन्न होना- 'रोग' कहलाता है। रोग की उत्पत्ति के नौ कारण स्थानांग सूत्र स्थान 9 में इस प्रकार लिखे हैं-

१. अत्यासन- अधिक बैठने से, बवासीर एवं अति अशन-अधिक खाने से अजीर्ण आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

२. अहितासन- आरोग्य के प्रतिकूल आसन से बैठने से अथवा अपथ्यकारी आहार करने से।

३. अति निद्रा- आवश्यकता से अधिक नींद लेने से।

४. अति जागरण- अधिक जागते रहने से।

५. उच्चार निरोध- बड़ी नीति (मल) रोकने से।

६. प्रस्रवण निरोध- लघुनीति-मूत्र रोकने। नेत्र संबंधी अनेक रोग।

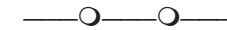
७. मार्ग गमन- अधिक चलने से या निरंतर चलते रहने से।

८. भोजन प्रतिकूलता- अपनी प्रवृत्ति के प्रतिकूल भोजन से।

९. इन्द्रियार्थ विकोपन- इन्द्रियों के विकार से। विषयों में अति गृद्ध रहने से। तपेदिक राजयक्ष्मा (T.B) आदि रोग।

नोट- पहले के आठ कारण साध्य रोगों के हैं, किन्तु नौवां कारण असाध्य कोटि का माना जाता है क्योंकि काम विकार में गृद्ध होने से शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

सेवं भंते! सेवं भंते!



4. 5 समिति 3 गुप्ति का थोकड़ा

श्रीमद् उत्तराध्ययन सूत्र के 24 वें अध्ययन में समिति गुप्ति का थोकड़ा चलता है सो कहते हैं:-

समिति- प्राणातिपात (जीव हिंसा) से निवृत्त मुनि की आवश्यक निर्दोष सम्यक् प्रवृत्ति को समिति कहते हैं तथा उत्तम परिणामों की चेष्टा को अथवा यतना से प्रवृत्ति करने को समिति कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं- 1. ईर्या समिति, 2. भाषा समिति, 3. एषणा समिति, 4. आदान-भंड-मात्र- निक्षेपणा समिति, 5. उच्चार- प्रश्रवण- खेल-जल्ल -सिंघाण परिस्थापनिका समिति।

गुप्ति- संसार के कारणों से आत्मा की सम्यक् प्रकार से रक्षा करना "गुप्ति" है। तीनों योगों (मन-वचन-काया) की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना भी गुप्ति है। इसके तीन भेद हैं- 1. मनोगुप्ति 2. वचन गुप्ति और 3. काया गुप्ति।

इन आठों को प्रवचन माता भी कहते हैं। जिस तरह माता अपने पुत्र पर अत्यन्त प्रेम करती है, उसका कल्याण चाहती है, वैसे ही कल्याणकारी होने से इन आठ गुणों को माता की उपमा दी जाती है। अथवा जिन प्रवचन रूप द्वादशांगी वाणी का जिसमें समावेश हो जाए (प्रवचन जिसमें मा जाए अर्थात् समा जाए) उसे प्रवचन माता कहते हैं।

पाँच समिति का स्वरूप

(1) ईर्या समिति- आवश्यकता होने पर विवेक और उपयोग पूर्वक चलने को 'ईर्या समिति' कहते हैं। ईर्या समिति के चार कारण होते हैं- 1. आलंबन 2. काल 3. मार्ग और 4. यतना।

1. आलंबन- भगवान ने ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रयोजन के लिए गमनागमन करने की आज्ञा दी है। उक्त प्रयोजन के बिना गमनागमन करने की आज्ञा नहीं है।

2. काल- ईर्या का काल दिन का ही है। रात्रि में दिखाई न देने के कारण अत्यन्त आवश्यक प्रयोजन के बिना गमन की आज्ञा नहीं है।

3. मार्ग- साधु टेढ़े या उजाड़ मार्ग से न जाकर सीधे राजमार्ग से चले। क्योंकि कुमार्ग में चलने से आत्मा और संयम की विराधना होने की संभावना रहती है।

4. यतना- यतना के चार भेद हैं- द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।

• इनके सात भंग इस प्रकार हैं-1. ज्ञान, 2. दर्शन, 3. चारित्र, 4. ज्ञान और दर्शन, 5. ज्ञान और चारित्र, 6. दर्शन और चारित्र, 7. ज्ञान, दर्शन और चारित्र।

I द्रव्य से- उपयोगपूर्वक जीवादि पदार्थों को देखता हुआ संयम तथा आत्मा को विराधना से बचाता हुआ चले।

II क्षेत्र से- युगमात्र⁺ आगे की भूमि को देखकर यतनापूर्वक चले।

III काल से- जब तक दिन रहे तभी तक यतना से चले फिर।

IV भाव से- चलते समय अपने उपयोग को ठीक रखना भाव यतना है। पाँच इन्द्रियों के विषय (शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श) तथा पाँच प्रकार के स्वाध्यायों को छोड़कर सिर्फ गमन क्रिया में तन्मय होकर और उसी को प्रधानता देकर उपयोगपूर्वक गमन करे।

(2) भाषा समिति- आवश्यकता होने पर हित, मित, प्रिय और निर्दोष वचन बोलने को 'भाषा समिति' कहते हैं। भाषा समिति के 4 भेद- 1. द्रव्य 2. क्षेत्र 3. काल और 4. भाव।

I द्रव्य - क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, मौख्य एवं विकथा इन आठ दोषों को तजकर निर्दोष, सत्य और परिमित भाषा बोले।

II क्षेत्र से - रास्ते चलता हुआ नहीं बोले।

III काल से- एक प्रहर रात्रि व्यतीत होने के बाद से लेकर सूर्योदय तक ऊँचे स्वर में नहीं बोले।

IV भाव से- उपयोग सहित तथा रागद्वेष रहित भाषा बोले।

(3) एषणा समिति- 42 दोष टालकर निर्दोष और परिमित भिक्षादि ग्रहण करने को 'एषणा समिति' कहते हैं।*

एषणा समिति के 4 भेद हैं- 1. द्रव्य 2. क्षेत्र 3. काल 4 भाव।

I द्रव्य से- उद्गम के 16, उत्पादना के 16 और एषणा के 10- इन 42 दोषों को टालकर आहार, पानी, (वस्त्र, पात्र, मकान) आदि की गवेषणा करे।

II क्षेत्र से- दो कोस (लगभग 7 किलोमीटर) उपरान्त ले जाकर अशानादि नहीं भोगे।

III काल से- पहले प्रहर में लाया हुआ अशानादि चौथे प्रहर में नहीं भोगे।

+ युग का परिमाण 96 अंगुल होता है। 96 अंगुल =4 हाथ।

* एषणा समिति 3 प्रकार की है- 1. गवेषणा, 2. ग्रहणैषणा, 3. परिभोगैषणा।

1. गवेषणा-आहारादि ग्रहण करने से पूर्व शुद्धि अशुद्धि की खोज करना।

2. ग्रहणैषणा-आहारादि ग्रहण करते समय शुद्धि अशुद्धि की खोज करना और

3. परिभोगैषणा-आहारादि भोगते समय शुद्धि अशुद्धि की खोज करना।

IV भाव से- रागद्वेष रहित होता हुआ मांडला के पाँच दोषों को टालकर अशनादि भोगे।

(4) आदान-भंड-मात्र निक्षेपणा समिति- वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों को देख और पूंजकर यतना से उठाने, रखने और उपयोग करने को आदान-भंड-मात्र निक्षेपणा समिति कहते हैं। उपधि दो प्रकार की होती है- 1. ओघोपधि और 2. औपग्रहिकोपधि।

1. ओघोपधि- जो हमेशा पास रखी जाये। जैसे- वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि।
2. औपग्रहिकोपधि- जो संयम रक्षार्थ थोड़े समय के लिए ग्रहण की जावे। जैसे- पाट, पाटला, शय्या आदि।

उपर्युक्त दो प्रकार के उपकरणों को ग्रहण करते तथा रखते हुए उपयोग पूर्वक देखे तथा पूंजे। आदान-भंड-मात्र निक्षेपणा समिति के 4 भेद - 1. द्रव्य, 2 क्षेत्र, 3. काल और 4. भाव।

I द्रव्य से- भण्डोपकरण यतना से लेवे, यतना से रखे, एवं यतना से वापरे तथा मर्यादा से ऊपर न रखे।

II क्षेत्र से- इधर उधर बिखरे हुए न रखे, व्यवस्थित रखे।

III काल से- कालोकाल उपयोगपूर्वक प्रतिलेखना करे।

IV भाव से- धार्मिक उपकरण रागद्वेष रहित होकर काम में लेवे तथा राग द्वेष उत्पन्न करने वाली उपधि न रखे।

(5) उच्चार-प्रस्रवण-खेल-जल्ल-सिंघाण-परिस्थापनिका समिति- मल-मूत्रादि त्याज्य वस्तुओं को 10 विशेषणों से युक्त स्थान में उपयोग पूर्वक परठने को उच्चार-प्रस्रवण-खेल-जल्ल-सिंघाण परिस्थापनिका समिति कहते हैं। इसके 4 भेद हैं- 1. द्रव्य 2. क्षेत्र 3. काल और 4. भाव।

I द्रव्य से- उच्चार (मल), प्रस्रवण (मूत्र), खेल (कफ), जल्ल (शरीर का मैल, पसीना आदि), सिंघाण (श्लेष्म), आहार (न खाने योग्य अशनादि) उपधि (उपकरण), शरीर (शव) तथा अन्य इसी प्रकार की परठने योग्य वस्तुओं को जहाँ तहाँ न फेंककर 10 विशेषणों से युक्त स्थान (स्थण्डिल) में परठे।

II क्षेत्र से - 10 प्रकार के शुद्ध स्थण्डिल में उच्चारदि परठे।

III काल से- सूर्यास्त से पूर्व संध्याकाल में स्थण्डिल भूमि की प्रतिलेखना करे।

IV भाव से- परठने जाते समय 3 बार 'आवस्सिया' कहे। परठने के योग्य भूमि को देखे, पूंजे और 'अणुजाणह जस्सुगगहो*' कहकर लगभग 4 अंगुल ऊँचे

से यतनापूर्वक परठे। परठकर 3 बार 'वोसिरामि' कहे। आते समय 3 बार 'निस्सही' कहे। स्थान पर आकर ईरियावहिया का कायोत्सर्ग करे।

तीन गुप्ति का स्वरूप

1. मनोगुप्ति- आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, संरंभ, समारंभ और आरंभ सम्बन्धित संकल्प और विकल्प न करना, धर्मध्यान शुक्लध्यान का चिंतन करना, मध्यस्थ भाव रखना व शुभ अशुभ योगों को रोक कर योग-निरोध अवस्था में होने वाली अन्तरात्मा की अवस्था को प्राप्त करना 'मनोगुप्ति' है। यह 4 प्रकार की होती है-

1. सत्या 2. मृषा 3. सत्यामृषा और 4. असत्यामृषा।

पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का चिन्तन करना **सत्य मनोयोग** है। इसे विषय करने वाली गुप्ति भी उपचार से सत्य कही जाती है। जैसे- 'जगत् में जीव तत्त्व हैं' - इस प्रकार चिन्तन करना। इसके विपरीत **असत्य मनोयोग** है। उसे विषय करने वाली गुप्ति **मृषा** कहलाती है। जैसे- 'जगत में जीवतत्त्व नहीं हैं' - ऐसा चिन्तन करना। दोनों प्रकार के मनोयोग को विषय करने वाली गुप्ति का नाम **सत्यामृषा** है। जैसे- आम्रादि विविध वृक्षों के वन को यह आम का वन है ऐसा चिन्तन करना। सत्य और असत्य दोनों प्रकार के विषयों से रहित मनोयोग का विषय करने वाली गुप्ति को **असत्यामृषा** कहते हैं। जैसे- हे देवदत्त! घी का घड़ा लाओ।

संरंभ आदि को स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित उदाहरण दिए जाते हैं-

I संरंभ- मैं इसे परितापना दूँ या मारूँ, ऐसा मन में विचार करना।

II समारंभ- किसी प्राणी को मानसिक संक्लिष्ट ध्यान द्वारा परितापना देना।

III आरंभ- किसी प्राणी को मानसिक संक्लिष्ट ध्यान द्वारा मार देना।

2. वचन गुप्ति- संरंभ, समारंभ और आरंभ सम्बन्धी अशुभ वचन का त्याग करना, विकथा न करना, मौन रखना 'वचन गुप्ति' है। यह 4 प्रकार की होती है- 1. सत्या 2. मृषा 3. सत्यामृषा और 4. असत्यामृषा। मनोगुप्ति में मन के व्यापार का संबंध है, वचन गुप्ति में वचन के व्यापार का सम्बन्ध समझना चाहिए।

I संरंभ- मैं इसे परितापना दूंगा या मारूंगा, ऐसा संक्लिष्ट शब्द बोलना।

II समारंभ- दूसरों को पीड़ा उत्पन्न करने वाला मंत्र गुनना।

III आरंभ- संक्लिष्ट मंत्र, जाप आदि के द्वारा मार देना।

3. काया गुप्ति- उठना, बैठना, सोना, ऊँचा चढ़ना, खड्डे आदि का उल्लंघन

* 'अणुजाणह जस्सुगगहो' अर्थात् जिसका स्वामित्व है, वे अनुमति प्रदान करें।

आदि क्रियाओं में यतनापूर्वक प्रवृत्ति करना एवं संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ आदि अशुभ प्रवृत्ति का त्याग करना 'काया गुप्ति' है।

I **संरंभ**- किसी प्राणी को परितापना देने या मारने के लिए हाथ, शस्त्र आदि उठाना।

II **समारंभ**-किसी प्राणी को हाथ, शस्त्र आदि चलाकर परितापना देना।

III **आरंभ**- किसी प्राणी को हाथ, शस्त्रादि से मार देना।

पुनः मन गुप्ति द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार प्रकार की होती है-

द्रव्य से- संरंभ, समारंभ और आरंभ से मन को निवृत्त करे और शुभ व्यापार में प्रवृत्ति करे।

क्षेत्र से- जहाँ-जहाँ भी विचरे।

काल से- जीवन पर्यंत।

भाव से- उपयोग सहित मन की अशुभ प्रवृत्ति का त्याग और शुभ प्रवृत्ति को धारण करे। इसी तरह वचन गुप्ति में मन की जगह वचन और कायगुप्ति में मन के स्थान पर काया कहना चाहिए।

पूर्वोक्त आठ प्रवचन माताओं का जो मुनि सम्यक् प्रकार से आचरण करता है वह संसार से शीघ्र मुक्त हो जाता है।

सेवं भंते! सेवं भंते!

—○—○—

5. भिक्षा के 110 दोष

भिक्षा के 42 दोषों में 16 उद्गम के दोष, 16 उत्पादना के दोष और 10 एषणा के दोष बताये गये हैं। भिक्षा देते समय गृहस्थ द्वारा लगने वाले दोषों को उद्गम दोष कहते हैं। साधु के द्वारा लगने वाले दोषों को उत्पादना के दोष कहते हैं। साधु तथा श्रावक दोनों के द्वारा लगने वाले दोषों को एषणा-दोष कहते हैं।

उद्गम के सोलह दोष :-

आहाकम्मुद्देसिय पूर्ई-कम्मे अ मीसजाए य।

ठवणा पाहुडियाए पाओअर कीय पामिच्चे।।।।।

परियट्टिए, अभिहडे, उब्भिण्णे मालोहडे य।

अच्छिज्जे अणिसिट्टे अज्झोयरए य सोलसमे।।।।।

आहार की उत्पत्ति से सम्बन्धित, गृहस्थ द्वारा लगने वाले उद्गम के सोलह दोष इस प्रकार हैं :-

1. **आधाकर्म :-** किसी खास साधु को मन में रखकर उसके निमित्त से सचित वस्तु को अचित करना या अचित को पकाना आधाकर्म कहलाता है। यह दोष चार प्रकार से लगता है :-

प्रतिसेवन- आधाकर्मी आहार का सेवन करने से।

प्रतिश्रवण - आधाकर्मी आहार के लिए निमंत्रण स्वीकार करने से।

संवसन- आधाकर्मी आहार भोगने वालों के साथ रहने से।

अनुमोदन-आधाकर्मी आहार भोगने वालों की प्रशंसा करने से।

2. **औद्देशिक :-** सामान्य याचकों को देने की बुद्धि से जो आहारादि तैयार किये जाते हैं, उन्हें औद्देशिक कहते हैं। इसके दो भेद हैं :- ओघ और विभाग। भिक्षुओं के लिए अलग तैयार न करते हुए अपने लिए बनते हुए आहारादि में कुछ और मिला देना ओघ है। विवाहादि प्रसंगों पर याचकों के लिए अलग निकालकर रख छोड़ना विभाग है।

किसी खास साधु के लिए बनाया गया आहार अगर वही साधु ले तो आधाकर्म, दूसरा ले तो औद्देशिक होता है। आधाकर्म पहले से ही किसी खास निमित्त से बनाया जाता है। औद्देशिक साधारण दान के लिए पहले या बाद में कल्पित किया जाता है। पूर्वकृत ओदन-मोदन आदि को साधु के उद्देश्य से दही-शर्करा आदि से संस्कारित करना औद्देशिक आहार है।

3. **पूतिकर्म :-** शुद्ध आहार में आधाकर्मादि का अंश मिल जाय तो वह पूतिकर्म हो जाता है। आधा कर्म का अल्प अंश भी शुद्ध आहार को अशुद्ध बना देता है- जैसे शुचि द्रव्य अशुचि द्रव्य से मिलकर अशुचि बन जाता है।
4. **मिश्रजात :-** अपने और साधु के लिए साथ पकाया हुआ आहार मिश्रजात है। इसके तीन भेद हैं-यावदर्थिक, पाखण्डिमिश्र और साधुमिश्र। जो आहार अपने लिए और सामान्य याचकों के लिए इकट्ठा बनाया जाय वह यावदर्थिक है। जो अपने और संन्यासियों के लिए इकट्ठा पकाया जाय वह पाखण्डिमिश्र है। जो अपने और साधुओं के लिए इकट्ठा बनाया जाय वह साधुमिश्र है।
5. **स्थापना :-** साधु को देने की इच्छा से कुछ काल के लिए आहार को अलग रख देना स्थापना दोष है।
6. **प्राभृतिका :-** साधुओं को विशिष्ट आहार बहराने की भावना से विवाहादि के प्रसंगों को या मेहमानों को आगे-पीछे करना। जैसे अभी साधु नजदीक हैं इसलिए उनके भी उपयोग आ जाय-इस भावना से आगे निर्धारित विवाहादि के भोजों को पहले कर लेना। साधु दूर हैं, अतः अभी निर्धारित भोजों को आगे पर सरकाना प्राभृतिका दोष है।
7. **प्रादुष्करण :-** देय वस्तु के अंधेरे में होने पर अग्नि, दीपक, बिजली आदि का उजाला करके देना प्रादुष्करण दोष है।
8. **क्रीत :-** साधु के लिए खरीद कर देना।
9. **प्रामित्य :-** साधु के लिए उधार लाया हुआ आहारादि देना।
10. **परिवर्तित :-** साधु के लिए अदल-बदल की हुई वस्तु देना।
11. **अभिहत :-** साधु के निमित्त वस्तु को अन्य ले जाकर देना अथवा साधु के सामने ले जाकर देना।
12. **उद्भिन्न :-** लेप आदि के द्वारा बंद की गई वस्तु के लेपादि खोलकर देना।
13. **मालापहत :-** ऊपर, नीचे या तिरछी दिशा में, जहाँ आसानी से हाथ न पहुँच सके वहाँ निःसरणी आदि लगाकर आहार देना मालापहत है।
14. **आच्छेद्य :-** निर्बल व्यक्ति या अपने अधीनस्थ व्यक्ति से छीनकर साधु को देना आच्छेद्य दोष है।
15. **अनिसृष्ट :-** किसी वस्तु के एक से अधिक स्वामी होने पर सबकी इच्छा के बिना देना अनिसृष्ट दोष है।

16. **अध्यवपूरक :-** साधुओं का आगमन सुनकर अपने निमित्त बनने वाली सामग्री में और अधिक सामग्री मिलाना अध्यवपूरक दोष है।

उक्त सोलह दोष आहारादि की उत्पत्ति से संबंधित हैं और गृहस्थ द्वारा लगते हैं। अतएव एषणा-समिति के आराधक और पालक साधु को आहार की गवेषणा करते समय इन दोषों से दूषित आहार मिलता हो तो वह ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि उक्त 16 दोषों से रहित आहार मिलता हो तो वह साधु के लिए कल्पनीय एवं ग्राह्य है।

उत्पादना के सोलह दोष :-

साधु के निमित्त से लगने वाले उत्पादना के 16 दोष इस प्रकार हैं :-

धाई दूर्ई निमित्ते आजीव वणी-मगे तिगिच्छा य।

कोहे माणे माया लोभे अ हवन्ति दस ए ए।

पुव्विंपच्छा संधव विज्जा मंते य चुण्ण जोगे य।

उप्पयणाई दोसा सोलसमे मूलकम्मे य।।

1. **धात्रीकर्म :-** बच्चे को पाँच प्रकार की (क्षीर, मज्जन, मण्डन, क्रीड़न और अंकारोपण) धाई की तरह खिला-पिलाकर गोदादि में लेकर और खेलाकर आहारादि प्राप्त करने से साधु को धात्री दोष लगता है।
2. **दूतीकर्म :-** दूत के समान गृहस्थ का संदेश एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाकर आहारादि लेना दूतीकर्म है।
3. **निमित्त :-** भूत-भविष्य-वर्तमान संबंधी शुभाशुभ फल बताकर गृहस्थ से आहार प्राप्त करना निमित्त पिण्ड है।
4. **आजीव :-** स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से अपनी जाति, कुल या अन्य विशेषताएँ बताकर आहारादि लेना आजीव पिण्ड है।
5. **वनीपक :-** श्रमण, शाक्य सन्न्यासी आदि में जो जिसका भक्त हो, उसकी प्रशंसा करके या दीनता दिखाकर आहारादि लेना वनीपक पिण्ड है।
6. **चिकित्सा :-** औषधि बताकर या वैद्यगिरी करके आहार लेना चिकित्सा पिण्ड है।
7. **क्रोध :-** अपनी विद्या या तप का प्रभाव बताकर और शाप आदि भय बताकर क्रोधित होकर आहार प्राप्त करना क्रोधी पिण्ड है।
8. **मान :-** अभिमान से स्वयं को लब्धिसम्पन्न, तेजस्वी, प्रतापी और बहुश्रुत बताकर या प्रभाव जमाकर आहारादि लेना मान पिण्ड है।

9. **माया :-** वंचना और कपट करके आहार लेना अथवा भिक्षा के लिए नाना वेश-भूषा का परिवर्तन करना माया पिण्ड है।
10. **लोभ :-** आहारादि का लोलुपी बनकर लोभवशा भिक्षा के लिए भटकते फिरना लोभ पिण्ड है।
11. **पूर्वपश्चात् संस्तव :-** आहारादि प्राप्त करने से पूर्व अथवा प्राप्त हो जाने के पश्चात् देने वाले की प्रशंसा करना अथवा दाता को अपने माता-पिता सम्बन्धी पूर्व परिचय और सास-ससुर सम्बन्धी पश्चात् परिचय देकर अथवा दाता के साथ सम्बन्ध बताकर आहारादि प्राप्त करना पूर्वपश्चात् संस्तव पिण्ड है।
12. **विद्या :-** स्त्री-रूप देवता से अधिष्ठित, जयादि से सिद्ध होने वाली अक्षरों की रचना विशेष को विद्या कहते हैं। विद्या का प्रयोग करके आहार लेना विद्या पिण्ड है।
13. **मंत्र :-** पुरुष-रूप देवता से अधिष्ठित ऐसी अक्षर रचना, जो पाठमात्र से सिद्ध हो जाय, उसे मंत्र कहते हैं। मंत्र के प्रयोग द्वारा आहारादि लेना मंत्र पिण्ड है।
14. **चूर्ण :-** अदृश्य करने वाले सुरमे (अंजन) आदि का प्रयोग करके आहार लेना चूर्ण पिण्ड है।
15. **योग :-** पादलेप आदि सौभाग्य-दुर्भाग्यकारी सिद्धियाँ बताकर आहारादि लेना योग पिण्ड है।
16. **मूलकर्म :-** गर्भस्तम्भ, गर्भाधान, गर्भपात आदि के लिए रक्षा-पोटली या औषधि आदि सावद्य क्रियाएँ करके आहार लेना मूलकर्म पिण्ड हैं।
सोलह उद्गम और सोलह उत्पादना के ये बत्तीस दोष गवेषणैषणा के हैं।

ग्रहण-एषणा के दस दोष :-

साधु और गृहस्थ-दोनों के द्वारा लगने वाले तथा आहार को ग्रहण करते समय लगने वाले एषणा के दस दोष इस प्रकार हैं :-

शकिय मक्खिय निक्खित पिहि-अ साहरिअ दायगुम्मीसे। अपरिणय लित्त छडिय, एषण दोसा दस हवन्ति।।

1. **शकित :-** आधाकर्मादि दोषों से शकित आहारादि को ग्रहण करना शकित दोष है।
2. **भ्रक्षित :-** सचित पानी, पृथ्वी, वनस्पति आदि से या गर्हित वस्तु से

आरिलष्ट-संघट्टित आहारादि लेना भ्रक्षित है।

3. **निक्षिप्त :-** जो आहार अचित होते हुए भी पृथ्वी, पानी, तेउ, वायु, वनस्पति या त्रस जीवों पर रखा हुआ हो, वह निक्षिप्त है।
4. **पिहित :-** जो आहार सचित फलादि द्वारा ढंका हुआ हो।
5. **साहरिय :-** जिस बर्तन में अकल्पनीय वस्तु पड़ी हो उसमें से वह अकल्पनीय वस्तु निकाल कर उसी बर्तन से आहारादि देने-लेने से साहरिय दोष लगता है।
6. **दायक :-** बालक, अंधा, गर्भवती आदि दान देने के अनधिकारी से आहारादि लेना दायक दोष है। अगर अधिकारी स्वयं बालक के हाथ से आहारादि बहराना चाहे तो वह दोष नहीं है। पिण्ड निर्युक्ति में बालक, वृद्ध, मत्त, उन्मत्त, कोढ़ी, अन्धा, गर्भवती आदि 40 प्रकार के दायक दोष बताये हैं। इनमें से कुछ से तो आहारादि लेना सर्वथा निषिद्ध है तथा कुछ से यथावसर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार आहार लेना अनुज्ञात है।
7. **उन्मिश्र :-** अचित के साथ सचित या मिश्र मिला हुआ अथवा सचित या मिश्र के साथ अचित मिला हुआ आहार लेना उन्मिश्र दोष है।
8. **अपरिणत :-** जिस पदार्थ में शस्त्र पूरी तरह परिणत न हुआ हो, जो पूर्ण रूप से पका न हो ऐसा आहारादि लेना अपरिणत दोष है।
9. **लित्त :-** अकल्पनीय अथवा गर्हित वस्तु से संसृष्ट (भरे हुए) हाथ, पात्र आदि से दिया जाने वाला आहार लित्त कहलाता है अथवा जिस वस्तु के लेने से हाथ या पात्र में लेप लगे और जिसके कारण पश्चात्कर्म की (हाथ पात्रादि धोने की) आशंका हो, वह आहारादि 'लित्त' है अथवा तुरन्त की लीपी हुई गोली भूमि पर चलकर आहारादि लेना-देना लित्त दोष से दूषित है।
10. **छर्दित :-** घी आदि पदार्थों को नीचे टपकाता हुआ या चावल आदि को बिखेरता हुआ आहारादि देवे तो वह छर्दित है। ऐसे आहारादि के लेने से कीड़ी आदि जीवों की हिंसा होने की संभावना रहती है। अतएव यह अकल्पनीय दोष है।
ग्रहणैषणा के ये दस दोष साधु और गृहस्थ दोनों के द्वारा लगते हैं।

परिभोगैषणा :-

भोजन करते समय पूरा-पूरा विवेक रखना परिभोगैषणा है। इसके पाँच दोष हैं :- 1. अंगार, 2. धूम, 3. संयोजना, 4. प्रमाणातिरेक, 5. कारणातिक्रान्त।

अंगार दोष :- निर्दोष आहार को भी गृद्धि, आसक्ति और लोलुपता के साथ खाना अंगार दोष है। लोलुपता संयम में आग लगाने वाली होती है अथवा दाता एवं आहारादि की सराहना करना अंगार दोष है।

धूम दोष :- अमनोज्ञ आहार की प्राप्ति होने पर उस आहार की या देने वाली की निंदा करते हुए क्रोध या द्वेष के वश होकर खाना धूम दोष है। इससे संयम धूमिल हो जाता है।

संयोजना दोष :- स्वाद-वृद्धि के लिए एक वस्तु में दूसरी वस्तु मिलाकर खाना, जैसे दूध में शक्कर मिलाकर खाने का आसक्तिपूर्ण भाव संयोजना दोष है।

प्रमाणातिरेक दोष :- प्रमाण से अधिक खाना प्रमाणातिरेक है। साध्वी के आहार का प्रमाण 28 कवल* तथा साधु के आहार का प्रमाण 32 कवल बताया है।

उक्त प्रमाण वाले 8 कवल का आहार करना-अल्पाहार है। उक्त प्रमाण वाले 12 कवल का आहार करना अपार्थ-ऊनोदरी है। उक्त प्रमाण वाले 16 कवल का आहार अर्द्ध-ऊनोदरी है। उक्त प्रमाण वाले 24 कौर का आहार करना ऊनोदरी (भूख से कम खाना) है। 32 कवल का आहार करना प्रमाण प्राप्त आहार है। जो उससे एक ग्रास भी कम आहार करता है वह श्रमण निर्ग्रन्थ प्रकाम रसभोगी नहीं कहा जाता। प्रमाण से अधिक खाना प्रमाणातिक्रान्त या प्रमाणातिरेक दोष है।

कारणातिक्रान्त दोष :- निर्ग्रन्थ श्रमण के लिये संयम देह की धारणा हेतु आहार करने का विधान किया गया है। शरीर की पुष्टि के लिये या स्वाद की लोलुपता के लिये आहार करना निषिद्ध है। श्रीमद् उत्तराध्ययन सूत्र में आहार-ग्रहण एवं विसर्जन के छः-छः कारण बताये हैं:-

आहार करने के छह कारण :-

गाथा- वेयण वेयावच्चे इरियट्टाए य संजमट्टाए।

तह पाणवत्तियाए छट्टं पुण धम्माचिन्ताए।।

-(श्रीमद् उत्तरा.अ. 26 गाथा 33)

1. वेदना- क्षुधा वेदनीय की शांति के लिये।
2. वेयावृत्य- आचार्यादि की वेयावृत्य करने के लिये।
3. ईर्यार्थ- ईर्या समिति का पालन करने हेतु।

* कवल के अनेक अर्थ बताएँ हैं, यथा- (1) मुर्गी के अण्डे जितना, (2) मुँह को विकृत किए बिना मुँह सामान्यतः जितना खुले, उसमें जितना समाए, उतना (3) 2000 चावल जितना एक कवल होता है।

4. संयमार्थ- प्रेक्षादि संयम की रक्षा हेतु।

5. प्राणप्रत्ययर्थ- अपने प्राणों की रक्षा हेतु।

6. धर्मचिन्तार्थ- शास्त्र पठन-पाठन आदि धर्मचिन्ता के लिये।

आहार त्यागने के छः कारण :-

गाथा- आयंके उवसग्गे, तित्तिक्खया, बंभचेर-गुत्तीसु।

पाणीदया तवहेउं, सरीर-वोच्छेयणट्टाए।।

-(श्रीमद् उत्तरा.अ. 26 गाथा 35)

1. आतंक- बीमार होने पर।
2. उपसर्ग- राजा, स्वजन, देव, तिर्यच द्वारा उपसर्ग किये जाने पर।
3. ब्रह्मचर्य गुप्ति- ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये।
4. प्राणिदया- प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों की रक्षा के लिये।
5. तपोहेतु- तप करने के लिये।
6. संलेखना- अंतिम समय में संलेखनापूर्वक शरीर छोड़ने के लिये।

आहार के अन्य दोष :- उक्त रीति से उद्गम के 16, उत्पादना के 16, एषणा के 10 और परिभोगैषणा के 5 ये 47 दोष टालकर आहारादि की गवेषणैषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा का सम्यक् निर्वाह करना एषणासमिति है। सामान्यतया आहार से सम्बन्धित उक्त 47 दोष विशेष प्रसिद्ध हैं, तथापि शास्त्रों में प्रकीर्णक (छुट्टक) रूप से आहार से सम्बन्धित अन्य दोष भी बताये गये हैं। जो इस प्रकार हैं:-

48. दानार्थ :- कीर्ति की कामना से दान के लिए तैयार किये गये आहारादि को ग्रहण करना।
49. पुण्यार्थ :- पुण्य कमाने के लिए अथवा मृतादि के नाम पर निष्पन्न और निकाले हुए आहारादि को लेना।
50. वनीपक :- दीन-हीन भिखारियों के लिए तैयार आहारादि सामग्री में से लेना।
51. श्रमणार्थ :- बौद्ध भिक्षु, संन्यासी, जोगी आदि के लिए बने हुए आहारादि में से लेना।
52. नियोग :- निमंत्रण स्वीकार कर आहारादि लेना और नित्य एक घर से आहारादि लेना।
53. शय्यातर पिण्ड:- स्थान देने वाले के यहाँ से आहारादि लेना।

54. **राजपिण्ड** :- विशेष रूप से राजा, ठाकुर आदि के लिए बनाये हुए पौष्टिक आहारादि को लेना।
55. **किमिच्छक** :- दानशालादि का जहां याचक को पूछा जाय-क्या चाहते हो? फिर उसकी आवश्यकतानुसार चीज दी जाय- आहारादि लेना (किमिच्छक दोष है)।
56. **संघट्ट** :- सचित वस्तु का स्पर्श करते हुए दिया जाने वाला आहार आदि लेना (संघट्ट दोष है)।
57. **बहु उज्झिय** :- जिस आहार में खाने योग्य कम और ऋंकने योग्य अधिक हो-ऐसी वस्तु लेना।
58. **गर्हित कुल** :- जिन कुलों का आचार-विचार हीन हो, लोक में गर्हित और निन्दित हों उन कुलों से आहारादि लेना।
59. **प्रतिकुष्ट कुल** :- जिसने मना कर दिया हो, उसके घर से लेना।
60. **अचियत्त कुल** :- अविश्वसनीय और अप्रीतिकारक घरों से आहारादि लेना।
61. **पूर्वकर्म** :- आहारादि देने से पूर्व हाथ या पात्रादि को धोकर देने वाले दाता से आहारादि लेना।
62. **पश्चात्कर्म** :- आहारादि देने के बाद हाथ या पात्रादि धोने की या अन्य प्रकार से दोष लगाने की संभावना हो ऐसे दाता द्वारा दिया जाने वाला आहारादि लेना।
63. **मद्यक** :- मादक वस्तुओं को लेना मद्यक दोष है।
64. **एलग** :- गोचरी के मार्ग में बैठे हुए बकरे को लाँघकर आहार के लिए घर में प्रवेश करना।
65. **श्वान** :- मार्ग में बैठे हुए कुत्ते को हटाकर या लाँघकर आहार के लिए घर में प्रवेश करना।
66. **दारक** :- उक्त रीति से बालक को लाँघकर आहार के लिए घर में प्रवेश करना।
67. **वच्छग** :- उक्त रीति से गाय के बछड़े को लाँघकर या हटा कर घर में प्रवेश करना।
68. **अवगाह** :- सचित पानी के अन्दर प्रवेश करके लाया हुआ आहारादि लेना।
69. **चलइत्ता** :- सचित पानी को हटा कर दिया हुआ आहार लेना।

70. **गुर्विणी** :- छह मास से ऊपर की गर्भवती स्त्री यदि आहारादि देने के लिए उठे या बैठे तो उससे आहार लेना दूषित है।
71. **स्तनपायी** :- बालक को स्तनपान कराती हुई महिला से आहारादि लेना (दूषित आहार है/अकल्पनीय है)।
72. **नीचा द्वार** :- जिस स्थान का द्वार बहुत नीचा हो, जिसमें जाने-आने से दाता की या साधु की विराधना हो सकती हो, ऐसे स्थान से आहारादि लेना वर्जनीय है।
73. **तमस** :- अन्धकारपूर्ण स्थान से लाकर दिया हुआ आहार लेना (वर्जनीय है)।
74. **क्षेत्रातिक्रान्त** :- यहाँ क्षेत्र से तात्पर्य सूर्य संबंधी ताप-क्षेत्र से है अर्थात् दिन। जो साधु सूर्योदय से पूर्व आहार ग्रहण कर सूर्योदय के बाद आहार करता है, वह क्षेत्रातिक्रान्त दोष है।
75. **कालातिक्रान्त** :- जो साधु दिन के प्रथम प्रहर में आहार ग्रहण करके चौथे प्रहर में उसका उपभोग करे तो वह कालातिक्रान्त दोष है।
76. **मार्गातिक्रान्त** :- जो साधु दो कोस से आगे आहार ले जाकर उसका उपयोग करे तो वह मार्गातिक्रान्त दोष है।
77. **प्रमाणातिक्रान्त** :- जो साधु बत्तीस कवल से अधिक आहार करे तो वह प्रमाणातिक्रान्त दोष है।
78. **कान्तारभक्त** :- जंगल में भिक्षुओं के निर्वाह हेतु बने हुए या दिये जाते हुए आहारादि में से लेना।
79. **दुर्भिक्षभक्त** :- दुष्काल पीड़ितों को दिये जाने वाले आहारादि में से लेना।
80. **वर्दलिकाभक्त** :- वर्षा की झड़ी लग जाने पर भिक्षुओं के लिए बनाये हुए आहारादि में से लेना।
81. **ग्लानभक्त** :- रोगी के लिए बने हुए आहार में से लेना।
82. **संखडी** :- जीमनवार में से आहारादि लेना।
83. **अन्तरायक** :- गृहस्थ के घर पर पहले से याचकादि खड़े हों, फिर भी आहार के लिए उस घर में प्रवेश करना अन्तराय दोष है।
84. **फूमित-व्यंजित** :- गर्म आहार को ऋंक से या पंखे से ठंडा करके दिये जाने वाले आहार को लेना।
85. **रचितक** :- मोदकादि के चूरे से पुनः मोदकादि बनाकर दिया जाता हुआ आहार लेना।

86. **पर्यवजात** :- रूपान्तरित करके दिया जाने वाला आहार लेना, यथा दही का मट्ठा या रायता बनाकर देने पर लेना।
87. **मौख्य** :- दाता की प्रशंसा या चाटुकारी करके आहार लेना।
88. **स्वयंग्रहण** :- दाता की इच्छा के बिना स्वयं हाथ से उठाकर आहारादि लेना।
89. **आह्वान** :- “है कोई दाता!” इस प्रकार पुकार-पुकार कर याचना करना।
90. **पासत्थभक्त** :- शिथिलाचारी, पार्श्वस्थ और कुशील से आहारादि लेना।
91. **अटवीभक्त** :- मुनि के उद्देश्य से वन में भोजन लेकर गये हुए कठियारे अथवा विहार में साथ रखे हुए व्यक्ति से आहार लेना।
92. **अग्रपिण्ड** :- भोजन करने से पूर्व गृहस्थ द्वारा जो भाग पुण्यार्थ या देवता के लिए निकाला जाता है, वह लेना अग्रपिण्ड दोष है।
93. **सागारिक निश्रा** :- शय्यातर द्वारा दिलाया हुआ आहार लेना।
94. **अन्यतीर्थिकभक्त** :- अन्यतीर्थी साधु की लाई हुई भिक्षा में से आहारादि लेना।
95. **रक्खणा** :- दाता के यहां रखवाली करके आहार प्राप्त करना।
96. **सासणा** :- विद्या पढ़ाकर आहार प्राप्त करना।
97. **निन्दना** :- दाता की निन्दा करके आहार प्राप्त करना।
98. **तर्जना** :- दाता को डरा-धमका कर आहार प्राप्त करना।
99. **गारव** :- अपनी जाति आदि का गर्व करके आहार लेना।
100. **मित्रता** :- मित्रता प्रकट कर आहार लेना।
101. **प्रार्थना** :- प्रार्थना करके आहार लेना।
102. **सेवा** :- दाता की सेवा करके आहार लेना।
103. **करुणा** :- अपनी दयनीय स्थिति बताकर आहार लेना।
104. **ज्ञातिपिण्ड** :- अपने सगे-संबंधियों से ही आहार लेना।
105. **पाहुणभक्त** :- केवल मेहमानों के लिए बनाया गया आहार लेना।
106. **उद्घाटन** :- चुलिये वाले द्वार आदि खोल कर या खुलवा कर आहार लेना।
107. **मंडी पाहुडिया** :- देवी-देवता को चढ़ाने के लिए बनाया गया आहार लेना।
108. **बलि पाहुडिया** :- बलि-बाकुला आदि उछालने के लिए कौओं को खिलाने हेतु बनाया हुआ आहार लेना।

109. **ठवणा पाहुडिया** :- साधुओं के लिए स्थापना कर रखी हुई वस्तु लेना।
110. बरसते हुए पानी में, धूंअर में, आंधी में, छोटे-छोटे प्राणियों के अधिक उड़ने पर भिक्षा के लिए जाना, वेश्याओं के मोहल्ले में भिक्षार्थ जाना आदि अन्य भी कई प्रकार के निषेधक नियम हैं। पिण्डनिर्युक्ति में विस्तार के साथ आहार के दोषों का कथन किया गया है।

उक्त सब प्रकार के आहार संबंधी दूषणों से बचकर श्रमण निर्ग्रन्थ को एषणा समिति का सम्यक् पालन करना चाहिए।

गृहीत आहारादि को 12 कारण से परठे- 1. आधाकर्म, 2. औद्देशिक, 3. मिश्रजात, 4. पूतिकर्म, 5. सूर्योदय के पूर्व ग्रहण किया गया हो तो, 6. सूर्यास्त के बाद लाया हुआ या बचा हुआ हो तो, 7. दो कोस उपरान्त का हो तो, 8. प्रथम प्रहर का आहार पानी चतुर्थ प्रहर में रह गया हो तो, 9. प्रासुक पानी (धोवनादि) में कच्चे पानी के छींटे गिर गए हो तो, 10. नवदीक्षित के हाथ का हो और वह नहीं खा सके तो 11. शय्यातर का हो तो, 12. साधु के निमित्त मोल लिया हुआ हो तो, इन सब दोषों से युक्त आहार को परठने की भगवान की आज्ञा है।

स्थण्डिल (भूमि) के 10 विशेषण

गाथा- अणावायमसंलोए, परस्सऽणुवघाइए।
समे अज्झुसिरे यावि, अचिरकालकयम्मि य।
वित्थिण्णे दूरमोगाद्वे, णासण्णे बिलवज्जिए।
तसपाणबीयरहिए, उच्चाराईणि वोसिरे।।

- (श्रीमद् उत्तरा.अ. 24 गाथा 17, 18)

1. जहाँ लोगों का आना जाना नहीं होता हो, न दृष्टि पड़ती हो।
2. जहाँ परठने से (1) संयम (छः काय) का उपघात (2) आत्मा का (शरीर विराधना) उपघात (3) प्रवचन उपघात (शासन की निन्दा) न हो। 3. जहाँ विषम ऊँची, नीची भूमि नहीं हो। 4. पोली भूमि नहीं हो तथा घास पत्तों आदि से ढंकी भूमि न हो। 5. सचित भूमि न हो। 6. परठने योग्य भूमि कम से कम 1 हाथ लम्बी चौड़ी हो। 7. जो भूमि कम से कम 4 अंगुल नीचे तक अचित हो। 8. जहाँ ग्राम-नगर उद्यानादि निकट न हो। 9. जहाँ चूहे आदि के बिल न हो। 10. जहाँ द्वीन्द्रियादि त्रस प्राणी, बीज, लीलन, चूलनादि अन्य स्थावर प्राणी न हो। इन 10 विशेषणों से युक्त स्थण्डिल (भूमि) पर परठें।

सेवं भंते! सेवं भंते!



1. महासती ब्राह्मी

इस अवसर्पिणीकाल में ज्ञान, विज्ञान, कृषि-उद्योग, समाज-व्यवस्था, सम्यता एवं संस्कृति आदि के प्रथम प्रणेता भगवान् ऋषभदेव थे। इस दृष्टि से जैनाचार्यों ने 'आदि ब्रह्मा' कहकर भगवान् ऋषभदेव की स्तुति की है। संभवतः इसी नाम के कारण श्री ऋषभदेव की प्रथम पुत्री 'ब्राह्मी' नाम से प्रसिद्ध हुई।

ब्राह्मी मानवयुग की वह प्रथम नारी है, जिसने मनुष्य का सर्वप्रथम अक्षरबोध दिया। शिल्प, लिपि एवं कला की वह प्रवर्तिका है और वर्तमान जैन संस्कृति की प्रथम श्रमणी भी। उस महामानवी भगवती ब्राह्मी की जीवन-कथा इस प्रकार है।

बहुत समय पहले की बात है, एक क्षितिप्रतिष्ठ नाम का सुन्दर नगर था। उस नगर में एक प्रसिद्ध मित्रमंडली थी, जो अपनी घनिष्ठ मैत्री और जन सेवा के कारण नगर में प्रख्यात थी। उस मंडली में विभिन्न वर्गों के छह मित्र थे राजकुमार महीधर, मंत्री का पुत्र सुबुद्धि, वैद्य-पुत्र जीवानन्द तथा श्रेष्ठी-पुत्र पूर्णचंद्र, शीलपुंज और केशवकुमार।

एक बार छहों मित्र नगर के बाहर बगीचे में घूम रहे थे। हंसी-मजाक और व्यंग-विनोद के कहकहे चल रहे थे। वे घूमते हुए एक सघन-वृक्ष कुंज के पास से निकले तो सहसा एक ध्यानस्थ मुनि पर उनकी नजर पड़ी। हंसी-मजाक बंद करके वे जैसे ही श्रद्धा के साथ मुनि को नमस्कार करने के लिए नजदीक आए और मुनि की ओर देखा तो बस आँखे फटी रह गईं। मुनि गलितकुष्ठ-रोग से पीड़ित थे।

उनके शरीर से रक्त और पीप झर रहा था, जैसे पसीना झर रहा हो। चमड़ी गल रही थी और उस पर मक्खियाँ भिन-भिना रही थीं, यह दृश्य देखते ही सबके हृदय में कंपकंपी पैदा हो गई। पर, मुनि तो इतनी वेदना और पीड़ा को चुपचाप सह जा रहे थे। वे निश्चल ध्यान में खड़े थे। दोनों हाथ घुटनों की ओर ऐसे स्थिर लटक रहे थे जैसे वृक्ष की शाखाएँ लटकी हों, और आँखे बंद, चेहरा प्रशान्त! मुनि के शरीर की दशा देखकर पाँचों मित्रों ने वैद्य जीवानन्द की ओर देखा-“मित्र! तुम जगत् प्रसिद्ध वैद्यराज के

पुत्र हो, स्वयं महान् वैद्यराज भी हो, तुम्हारे होते हुए भी एक तपस्वी साधु रोग से इस प्रकार ग्रस्त रहे, यह क्या उचित है? फिर ऐसे महान साधकों की सेवा से तो न केवल तुम्हारी चिकित्सा प्रणाली कृतार्थ होगी, पर जीवन भी कृतार्थ हो जाएगा।”

जीवानन्द ने गंभीर होकर कहा-“मित्रों! तुमने मेरे मुहँ की बात ले ली। मैं भी यही सोच रहा हूँ। इस पुण्यप्रसंग से यदि मैं दूर हट गया तो समझो आती हुई लक्ष्मी को ठोकर मार दी। मुनि का यह रोग दुःस्साध्य अवश्य है, पर दुस्साध्य को साध्य करना, दुःसम्भव को संभव बनाना-इसी में तो मनुष्य की महिमा है। चलो, हम सब मिलकर प्रयत्न करें।”

छहों मित्र अब मुनि की चिकित्सा के साधन जुटाने में लग गए। लक्षपाकतैल, गौशीर्षकचंदन और रत्नकम्बल ये तीन वस्तुएँ आवश्यक थीं। तैल जीवानन्द के औषधालय में था, किन्तु चन्दन और रत्नकम्बल नगर में खोजने से भी कहीं नहीं मिले। राजकुमार और मंत्रीपुत्र स्वयं नगर का चप्पा-चप्पा छानकर हार गए। आखिर एक वृद्ध व्यापारी के पास ये दोनों वस्तुएँ मिलीं। पर, ऐसी बहुमूल्य वस्तुएँ देने में वह अचकचा रहा था। राजकुमार ने कहा-“तुम्हें जितना धन चाहिए ले लो। किन्तु ये दोनों वस्तुएँ देनी होंगी।”

“आपको इन दुर्लभ वस्तुओं की ऐसी क्या जरूरत आ पड़ी?—वृद्ध वणिक् ने आश्चर्यपूर्वक पूछा। तभी अन्य मित्र भी घूमते हुए वहाँ आ गए। राजकुमार ने बताया “एक तपस्वी संत को कुष्ठ हो गया है, भयंकर वेदना सह रहे हैं, हम उनकी चिकित्सा के लिए ये साधन जुटा रहे हैं।”

वणिक् ने उच्चकुल के इन युवकों में सेवा की लगन देखी तो उसका दिल पसीज उठा। “भोग और आनन्द के समय में भी ये सेवा का व्रत लिए यों स्वयं को न्यौछावर कर रहे हैं—और मैं धन का लालच कर इनसे पैसे मांगना चाहता हूँ? मुझे भी कुछ सत्कर्म करना चाहिए—परलोक में पैसा नहीं, पुण्य ही काम आएगा”—यह सोचकर वृद्ध ने अपनी दुकान से गौशीर्ष चन्दन और रत्नकम्बल निकाला। राजकुमार के हाथों में थमाते हुए उसकी आँखें मुस्कारा रही थीं।

“ इनका मूल्य क्या है”—राजकुमार ने पूछा।

“ बेटा ये तो अमूल्य हैं। किसी संत की सेवा में मेरी वस्तु काम

आएगी तो बस मैं कृतार्थ हो जाऊँगा। मुझे धन नहीं चाहिए।” छहों मित्र कुछ देर तक वृद्ध की ओर आश्चर्यपूर्वक देखते रहे और फिर धन्यवाद के साथ आगे चल पड़े।

छहों मित्र उद्यान में आये। जीवानन्द ने अपने हाथ में मुनि के शरीर पर लक्षपाक तेल की मालिश की। फिर रत्नकम्बल से शरीर ढँक दिया। कुछ ही क्षणों में रोग के कीटाणु कम्बल से चिपट गए। कम्बल हटाकर दूर किया और गौशीर्षचन्दन का लेप मुनि के शरीर पर कर दिया। तीन दिन उपचार करने से मुनि का समस्त रोग दूर हो गया, काया कंचन-सी चमक उठी।

निस्पृहभाव से संत-सेवा और जन-सेवा करने वाली इस मित्र मंडली ने एक दिन साधना-मार्ग पर बढ़ने का निश्चय किया। भोग के मार्ग पर जो साथ थे, वे त्याग मार्ग में भी साथ निभाने को तैयार हो गए। वास्तव में यही तो सच्ची मित्रता है। छहों मित्रों ने संयम-व्रत स्वीकार कर तपस्या की, ध्यान-साधना की और अपने जीवन को कृतार्थ किया। ये ही छह मित्र आगे चलकर कर्मयुग के प्रारम्भ में क्रमशः ऋषभदेव (जीवानन्द), भरत (महीधर), बाहुबली (सुबुद्धि) ब्राह्मी (पूर्णभद्र) सुन्दरी (शीलपुंज) और श्रेयांसकुमार (केशव) के रूप में अवतरित हुए।

भगवान् ऋषभदेव के सौ पुत्र थे। उनमें भरत सबसे बड़े थे। दो पुत्रियाँ थीं जिनका नाम था-ब्राह्मी और सुन्दरी। ऋषभदेव का जैसा स्नेह पुत्रों पर था वैसा ही स्नेह पुत्रियों पर था। उन्होंने देखा-पुरुष की अपेक्षा नारी का मानस अधिक स्थिर एवं शांत होता है। पुरुष में राज्यलिप्सा, अधिकार भावना प्रबल होती है, जबकि नारी में सेवा, आत्मसंयम एवं कला तथा ज्ञान की अभिरुचि विशेष होती है। इसीलिए उन्होंने अपनी पुत्री ब्राह्मी को सर्व-प्रथम अक्षर ज्ञान दिया। ब्राह्मी की प्रतिभा तीक्ष्ण थी, नई-नई विद्याएँ सीखने की प्रबल जिज्ञासा थी उसमें। वर्णमाला का पहला अक्षर सर्वप्रथम उसी ने अपने हाथ से लिखा, जिस कारण हमारी लिपि आज भी ब्राह्मी-लिपि के नाम से प्रसिद्ध है। ऋषभदेव से उसने शिल्प, संगीत, चित्रकला, काव्य कला आदि चौसठ कलाएँ सीखीं और अन्य स्त्रियों में उसका प्रचार किया। ब्राह्मी चाहती थी कि नारी-जाति ज्ञान-विज्ञान, शिल्प-संगीत आदि कलाओं में उत्तरोत्तर प्रगति करती हुई, साम्राज्य-लिप्सु पुरुषवर्ग को मार्गदर्शन दे, उसे ज्ञान एवं चारित्र

की साधना का उपदेश करे। इसलिए उसने घर-घर में कला एवं शिक्षा का प्रचार किया। राजकुमारी होते हुए भी वह स्वयं ब्रह्मचारिणी रहकर एक उपदेशिका का सादा त्यागमय जीवन बिताने लगी।

ऋषभदेव अपने पुत्रों को राज्य सौंपकर स्वयं तपस्या करने जंगल में चले गये। एक हजार वर्ष तक एकान्त में मौन, स्वाध्याय, ध्यान एवं तपस्या करते हुए ऋषभदेव ने केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त किया।

ऋषभदेव तीर्थंकर बनने के बाद उसी अयोध्या नगरी में पधारे, हजारों-हजार नर-नारी भगवान् के दर्शन करने, उनकी दिव्य-विभूतियों को देखने नगर के उद्यान की ओर चल पड़े।

भगवान् ऋषभदेव की माता मरुदेवी काफी वृद्ध हो चुकी थीं, फिर भी स्वस्थ व प्रसन्न थीं। एक हजार वर्ष बाद उसने अपने पुत्र की सुख शांति के समाचार सुने, उनकी दिव्य विभूतियों का वर्णन सुना तो माता का रोम-रोम पुलक उठा। हर्षोल्लास के साथ मरुदेवी, भरतजी, राजकुमारी ब्राह्मी और सुन्दरी तथा अगणित नर-नारियों के साथ भगवान् के दर्शन करने आईं।

मरुदेवी हाथी की शाही सवारी पर बैठी भगवान् ऋषभदेव की दिव्य छटा देखने लगी। मातृहृदय की ममता ने स्नेह-विभोर कर दिया। वह धीरे-धीरे ऋषभदेव की आध्यात्मिक विभूतियों का भी विचार करने लगी। मरुदेवी के हृदय में उछलती स्नेहधारा धीरे-धीरे वैराग्य के रूप में बदल गई। उनका मन शांत एवं वैराग्य रस में डूब गया। उच्च विचारों की श्रेणी पर चढ़ते-चढ़ते मरुदेवी को वहीं केवलज्ञान हो गया और दूसरे ही क्षण वह प्राण त्यागकर सिद्ध बन गई।

मरुदेवी का आकस्मिक निर्वाण देखकर भरत, ब्राह्मी, सुन्दरी आदि स्नेह-विह्वल हो उठे। सबका मन खिन्न, उदास एवं विरक्त-सा हो गया। भरत के मन की विरक्ति क्षणिक रही, किन्तु ब्राह्मी व सुन्दरी के मन ने तो बिल्कुल नया मोड़ ले लिया। दोनों बहनें पिताश्री की तरह साधना पथ पर चलकर आत्मकल्याण के लिए तत्पर हो गईं। ब्राह्मी तो अब तक उपदेशिका-सा सादा व त्यागमय जीवन बिताती आ रही थी। भाई भरत चक्रवर्ती के राजसी वैभव का उस पर कुछ भी असर नहीं था। उसके उदात्त और उच्च जीवन के संस्कारों से भरत आदि समस्त परिवार प्रभावित था।

ब्राह्मी ने भरत से कहा-“भाई! मैं पूज्य पिताजी की भाँति साधनामय

जीवन बिताना चाहती हूँ। मुझे दीक्षा की अनुमति दो।”

भरत की आँखों में आँसू छलछला उठे। उसने कहा-“ बहना। कुछ दिन तो रुको! हम भाई-बहन का आदर्श प्रजाजनों को सिखलाएँ, स्नेह और ममता के मधुर संस्कारों से जन-जीवन को सुखमय बनाने की कला का विकास करें।”

ब्राह्मी ने सुन्दरी की ओर इशारा किया। ब्राह्मी ने उसकी ओर देखकर कहा-“भाई! तुम अकेले कहाँ हो? सुन्दरी तुम्हें अपने मधुर स्नेह से उपकृत करती रहेगी। मैंने अपना निश्चय कर लिया है, तुम मुझे संयम पथ पर कदम बढ़ाने से अब मत रोको।”

ब्राह्मी के दृढ़ विचारों का प्रतिरोध करने का स्वयं भरत भी साहस नहीं कर सके। किन्तु उनकी मूक ममता और स्नेह-बंधन ने सुन्दरी के बढ़ते कदम रोक दिए।

ब्राह्मी ने भगवान् ऋषभदेव (जो कर्मयुग में धर्म आदि करने के कारण ‘आदिनाथ’ भी कहलाते थे) से दीक्षा देने की प्रार्थना की। ब्राह्मी को दीक्षित होते देखकर अनेक राजरानियों तथा राजकुमारियों ने भी उनके साथ दीक्षा लेने का पवित्र संकल्प किया और वे भी प्रभु चरणों में दीक्षित हो गईं। इस प्रकार नारी जगत की आदि शिक्षिका भगवती ब्राह्मी अध्यात्म पथ की पहली साधिका बनी। श्रमणी परम्परा की वही पहली महाश्रमणी थी।



2. वैराग्यमूर्ति सुन्दरी

भगवती ब्राह्मी को दीक्षित होते देखकर सुन्दरी का मन भी दीक्षा लेने को उतावला हो गया। किन्तु भरत चक्रवर्ती, जो कि बड़े भाई होने के नाते पितातुल्य पूज्य भी थे और राजा होने के नाते शासक भी थे, दोनों ही कारणों से उनकी आज्ञा मिलना जरूरी था। उन्होंने सुन्दरी को दीक्षा लेने से रोक दिया। सुन्दरी का मन भीतर-ही-भीतर तड़प कर रह गया, पर भरत की आज्ञा का उल्लंघन तो वह कैसे कर सकती थी?

उस युग की समस्त नारी जाति में सुन्दरी का लावण्य और रूप अद्भुत था। विशेष सुन्दरता के कारण ही उसका नाम भी ‘सुन्दरी’ प्रख्यात

हो गया। पर, इतनी सुन्दर होते हुए भी सांसारिक विषयों के प्रति उसका मन बिल्कुल विरक्त था और जब माता मरुदेवी को हाथी के हौदे पर बैठे-बैठे ही देह त्यागते देखा तो उसका मन संसार की नश्वरता के प्रति बिल्कुल उदासीन हो गया। सुन्दरी जब दीक्षा लेने के लिए भाई भरत से अनुमति माँगने गई तो भरत बोले-“सुन्दरी! तुम्हारा यह सुकुमार शरीर और साधु जीवन का कठोर मार्ग? क्या मोम के दाँतों से लोह के चने चबाये जा सकेंगे? रूई के पाँवों से अंगारों पर कैसे चला जायेगा?”

“भाई! मुझे संसार के सुख नहीं चाहिए। इन भोग-विलासों में मुझे पीड़ा अनुभव होती है, मेरा मन उद्विग्न हो रहा है। मैं चाहती हूँ, जल्दी से जल्दी संयम के शाश्वत, सुखमय मार्ग पर चलकर जीवन का कल्याण करूँ।

“सुन्दरी! आत्म-कल्याण तो मुझे भी करना है, पर अभी तो समूचा जीवन पड़ा है। मैं योग और वैराग्य का निषेध नहीं करता, पर जीवन में सब कार्य समय पर और क्रमशः होने चाहिए। असमय में किया गया सुन्दर कार्य भी अशोभनीय हो जाता है। तुम्हारा सुकुमार शरीर, तुम्हारा लावण्य युक्त यौवन अभी भोग के योग्य है” कहते-कहते भरत की वाणी रुक गई। शायद वह और भी कुछ कहना चाहते थे, पर सुन्दरी की स्नेहिल आँखों में सहसा एक तीव्र अनादर और घृणा के भाव उमड़ आए। सुन्दरी सहसा चौंकी, उसे अनुभव हुआ, अब तक की युगल परम्परा के अनुसार भरत का मन सुन्दरी के सौन्दर्य को पत्नी रूप में पाकर उसका उन्मुक्त उपभोग करना चाहता है। इस आशंका से ही सुन्दरी का हृदय सिहर उठा, आँखें डबडबा आईं। सौन्दर्य सदा सुखदायी नहीं, दुःखदायी भी हो जाता है, यौवन मधुर ही नहीं, कटु भी हो जाता है, सुन्दरी को पहली बार यह अनुभव होने लगा।

भरत सुन्दरी की उदासी समझ गए। पर ‘समय’ इस उदासी को हँसी-खुशी में बदल देगा, यह सोचकर भरत ने परिचारिकाओं से सुन्दरी की विशेष देखभाल करने को कहा और दिग्-विजय करने के लिए सेना के साथ प्रस्थान कर दिया।

भाई भरत दिग्-विजय को चले गये, परिवार में अब सुन्दरी पर आज्ञा चलाने वाला कोई ज्येष्ठ नहीं था। सुन्दरी एक प्रकार से स्वतन्त्र थी। आजादी का उपयोग उसने भोग के लिए नहीं, किन्तु आत्म-साधना के लिए किया।

उसने संकल्प किया-जो सुन्दरता मेरी साधना और आत्म-स्वतन्त्रता में बाधक है, ऐसी सुन्दरता से भी क्या लाभ? शरीर तो धर्म का साधन है, स्वास्थ्य और सौन्दर्य यदि धर्म साधना को पंगु बनाने लगे तो बुद्धिमान उस स्वास्थ्य और सौन्दर्य की परवाह नहीं करता। सुन्दरी ने दूध, दही, घी, मिष्ठान्न आदि पौष्टिक पदार्थों का त्याग कर दिया। वह निरन्तर आर्यबिल तप करने लगी। शरीर की ममता से रहित होकर तप साधना में जुट गई।

साठ हजार वर्ष तक दिग्विजय यात्रा करते हुए छह खण्ड पर अपनी विजय ध्वजा फहराकर राजा भरत इस भरतखण्ड के पहले चक्रवर्ती बने। विजय यात्रा से लौटने पर भरत का अयोध्या में विजयोत्सव मनाया गया। मंगल गीत गाये गये और नगर की कुमारियों एवं कुलवधुओं ने भरत को विजयतिलक करके बधाया। कुमारियाँ के झुण्ड में सुन्दरी को नहीं देखकर भरत चिंतित हो गए। वे शीघ्र ही स्वागत समारोह से निपट कर सीधे राजमहलों में आए। परिचारिकाओं से पूछा-“सुन्दरी कहाँ हैं?”

“महाराज! कब से वे तो महलों में ही हैं, पता नहीं उन्हें क्या हो रहा है?” विनम्र किन्तु दुःखी स्वर से परिचारिका ने कहा।

भरत जैसे ही महल में पहुँचे और सामने शय्या कक्ष में एक दुर्बल अस्थिपंजर को श्वेत कपड़ों में लिपटा देखा तो अवाक् से रह गये। सिर चकराने लगा, आँखें फटी-सी रह गई। “सुन्दरी! तुम्हारा यह क्या हाल हुआ? लगता है शरीर में रक्त और मांस का तो कहीं नाम-निशान भी नहीं रहा। मात्र हड्डियों का ढाँचा रह गया है, यह क्या हो गया तुम्हें?”

“भाई! हुआ कुछ नहीं! मैंने तो किया है? जो शरीर, जो सुन्दरता किसी के मोह, मूढ़ता एवं विनाश का कारण बने, वह शरीर और वह सुन्दरता किस काम की!” धीमे स्वर में सुन्दरी ने उत्तर दिया और आँखें नीचे झुका लीं।

भरत देख रहे थे-सुन्दरी की आँखों में एक क्षीणज्योति टिमटिमा रही थी, जैसे किसी बुझते हुए दीपक की कांपती हुई लौ हो। परिचारिका की ओर देखकर भरत रोष के साथ बोले-“तुम सब क्या कर रहीं थीं? मैंने सुन्दरी की जिम्मेदारी तुम्हें सँभलाई और तुमने इसकी कोई सँभाल नहीं रखी! लगता है मेरे पीछे तुमने इसकी उचित सेवा नहीं की। इसकी अवमानना हुई है।”

“महाराज! अविनय माफ हो! जब से श्रीमान् विजययात्रा पर पधारे हैं, राजकुमारी आर्यबिल-तप कर रही हैं। लाख समझाने-बुझाने पर भी हमारी एक नहीं सुनी।”

बात काटते हुए बीच ही में सुन्दरी बोल पड़ी “भाई! इसमें किसी का दोष नहीं, मैंने स्वयं ही अपने शरीर को क्षीण किया है। आपने मुझे संयम लेने से रोका तो मैंने महल में ही अपनी साधना शुरू कर दी। मेरा देह-सौन्दर्य मुझा गया तो क्या हुआ, आत्मा का अमर सौन्दर्य भीतर खिलता-सा लग रहा है।”

भरत, सुन्दरी के मुख पर दमकती अन्तर सौन्दर्य की निर्मल आभा देखकर स्तब्ध रह गए। उन्हें लगा-सचमुच जब मन विरक्त हो जाता है तो राजभवन भी तपोवन बन जाता है, साधना और वैराग्य का कोई समय नहीं, कोई आयु नहीं। जब भी मन में विरक्त जगी, तभी योग लिया जा सकता है। जिसका मन विषयों से विरक्त हो गया, उसे चक्रवर्ती के भोग और ऐश्वर्य मिट्टी से भी तुच्छ लगते हैं। भरत का हृदय बदल गया। सुन्दरी के हजार-हजार बोल भरत को जो बात नहीं समझा सके, वह उसकी मूकसाधना ने प्रथम-दर्शन में ही समझा दी।

“बहन! क्षमा करो! मेरा मन भ्रान्त हो गया था, मैंने तुम्हें संयम साधना के पथ से रोकने की धृष्टता की, तुम्हारी तपोमय आत्मा का अपमान किया। चलो, तुम भगवान् आदिनाथ के चरणों में, मैं स्वयं तुम्हारी दीक्षा के लिए प्रार्थना करूँगा।”

सुन्दरी का सत्याग्रह सफल हुआ। उसकी आँखें-अपूर्व उत्साह से चमक उठी। शरीर में जैसे बिजली दौड़ गई। वह शीघ्र ही तैयार हुई। चक्रवती भरत ने पूरे राजकीय समारोह के साथ सुन्दरी का दीक्षा महोत्सव मनाया। भगवान् आदिनाथ के चरणों में दीक्षा लेकर महासती सुन्दरी भगवती ब्राह्मी के निकट रहकर ज्ञान, दर्शन एवं चरित्र की साधना में जुट गई।

छह खण्ड विजय कर लेने के बाद भरत ने बाहुबली आदि अपने निन्यानवे भाइयों को भी अधीनता स्वीकार का स्वयं को चक्रवती मानने के लिए विवश किया। भाई से विग्रह न किया जाय-इसलिए अठानवे भाई राज्य त्यागकर दीक्षित हुए और आत्म-साधना में लग गए। परन्तु महाबली बाहुबली को भरत का प्रस्ताव स्वीकार नहीं हुआ। परिणामः भाई-भाई से

मोहासक्त थी। किन्तु सुदर्शन अनेक गुणों के साथ-साथ सदाचरण और नीति का भी धारक था। अतः वह अपना जीवन संयमपूर्वक व्यतीत करता था।

सुदर्शन का एक घनिष्ठ मित्र था, कपिल। दोनों का एक दूसरे के घर आना-जाना था। कुछ समय बाद कपिल का विवाह कपिला नामक ब्राह्मण कन्या से हुआ और सुदर्शन का विवाह एक सेठ की पुत्री मनोरमा के साथ सम्पन्न हुआ।

दोनों युगल सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने लगे। एक दिन सेठ सुदर्शन किसी कार्य से अपने मित्र कपिल के यहाँ गया। कपिल कहाँ बाहर गया हुआ था। उसकी पत्नी कपिला अकेले में सुदर्शन को देखकर उस पर आसक्त हो गई। उसने अपनी काम-भावना की पूर्ति के लिए सुदर्शन से अनुरोध किया। सुदर्शन ने उसे बहुत समझाया। किन्तु वह अपनी वासनामय दृष्टि से विरक्त नहीं हुई और सुदर्शन पर सभी तरह से जोर डालने लगी। तब संयमी सुदर्शन किसी प्रकार अपने नपुंसक होने का बहाना करके वहाँ से बच कर आ गया। कपिला अपनी असफलता पर मन मसोस कर रह गई।

थोड़े दिनों बाद बसंत ऋतु का आगमन हुआ। उसका उत्सव मनाने के लिए चम्पा नगरी का राजा दधिवाहन और उसकी रानी अभया अपने प्रजाजनों के साथ एक उपवन में एकत्र हुए। इस उत्सव में रानी अभया ने सुदर्शन की पत्नी मनोरमा की प्रशंसा की ओर उसके पुत्र को भी दुलार किया। इस बात को देखकर कपिला ब्राह्मणी जल-भुन गई। उसने रानी के कान में गुप्त रूप से कहा-“यह पुत्र सुदर्शन को कैसे हो सकता है? क्योंकि वह तो नपुंसक है। उसने इसी कारण से मेरी प्रेम याचना को टुकरा दिया था।” तब अभया रानी ने कपिला की हँसी उड़ाते हुए कहा-“कपिला! तुम भोली हो। अब देखना सेठ सुदर्शन को मैं अपने जाल में कैसे फँसाती हूँ।”

बसन्त उत्सव से लौटने के बाद, अभया रानी ने अपनी पंडिता नामक एक दूती से, सेठ सुदर्शन को अपने महल में किसी प्रकार ले आने को कहा। दूती पंडिता को जब किसी सीधे उपाय से दृढव्रती सुदर्शन को फुसलाना सम्भव नहीं लगा, तो वह अष्टमी के दिन पौषधशाला में ध्यान में लीन सुदर्शन को उठाकर रानी के महल में ले आई।

अभया रानी के शयनागार में जब सुदर्शन को पहुँचा दिया गया तो

रानी ने उसे अपनी मनोकामना पूरी करने के लिए प्रेरित किया। सुदर्शन ने रानी को ‘शीलव्रत’ का महत्व समझाया किन्तु इसका अभया पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसने सुदर्शन को तरह-तरह से प्रलोभन दिए और भय उपस्थित किए, किन्तु सुदर्शन अपने शीलव्रत से लेशमात्र भी विचलित नहीं हुए।

अपने मायाजाल में असफल होकर रानी अभया ने दूसरा प्रपंच रच दिया। उसने अपने शरीर को स्वयं नाखूनों से क्षत-विक्षत कर डाला और अपने वस्त्र अस्त-व्यस्त कर राजा को यह सूचना पहुँचा दी कि सेठ सुदर्शन ने बलपूर्वक रनिवास में प्रवेश करके उसका शील-भंग करने का प्रयत्न किया है। राजा ने आवेश में आकर सुदर्शन को प्राण-दण्ड देने का आदेश दे दिया।

सेठ सुदर्शन को जब प्राण-दण्ड देने के लिए शूली पर चढ़ाने ले जाया जा रहा था, तब नगर में हाहाकार मच गया। सुदर्शन की पत्नी मनोरमा को अपने पति के शील पर पूरा विश्वास था। अतः उसने राजा से सुदर्शन को छोड़ने की फरियाद की किन्तु रानी के दुष्चक्र के सामने उसकी कुछ भी न चली।

सेठ सुदर्शन को जब राजा के सैनिक शूली पर चढ़ाने लगे, तब उन्होंने उसे अपने इष्ट देव को स्मरण करने के लिए कहा। सुदर्शन ने ध्यान में लीन होकर पंच परमेष्ठि मंत्र का स्मरण किया। कुछ ही समय में क्या देखते हैं कि शूली सिंहासन में बदल गई। राजा के सैनिक स्तब्ध हो गए। वहाँ पर एकत्र भीड़ इससे बड़ी प्रमुदित और प्रसन्न हो उठी। सेठ सुदर्शन की निर्दोषता चमत्कारिक रूप से सबके सामने प्रगट हो गई।

राजा दधिवाहन ने सेठ सुदर्शन का सत्कार कर उसे नगर सेठ बना दिया। जब राजा, रानी अभया और कपिला को दण्ड देने लगा तो सुदर्शन ने उन्हें क्षमा प्रदान करा दी। सुदर्शन की धर्मनिष्ठा, क्षमाशीलता और शीलव्रत-साधना की जय-जयकार से दिशाएँ गूँज उठीं।



4. कांक्षा से निःकांक्षा की ओर कपिल केवली

कौशाम्बी नगरी में जितशत्रु राजा का राज पुरोहित काश्यप ब्राह्मण था। उसकी यशा पत्नी तथा कपिल नामक पुत्र था। काश्यप महाविद्वान् था। वह राजमान्य तथा प्रतिष्ठित था। कपिल बालक था तभी उसके पिता काश्यप की मृत्यु हो गई। काश्यप के मरते ही राज्य की ओर से मिलने वाला सम्मान द्रव्य आदि बन्द हो गया, उसके स्थान पर नए विद्वान की नियुक्ति हो गई।

प्रतिदिन अन्य विद्वान सम्मान सहित अश्वारूढ़ होकर राजप्रासाद की ओर काश्यप के घर के आगे से निकलते थे। उसे देखकर काश्यप पत्नी यशा को आघात लगता क्योंकि इसके पूर्व जो प्रतिष्ठा उसके दिवंगत पति को प्राप्त थी, आज वह दूसरे को प्राप्त है। यह देखकर उसकी आँखों से आँसू छलक पड़ते। अभावों ने उसे अधिक शोकाकुल बना दिया। एक दिन उसके आँसुओं का वेग बढ़ गया। उसे देखकर बालक कपिल भी रोने लगा। कपिल ने माता के रूदन का कारण पूछा। माता ने कहा-“बेटा जो सम्मान और प्रतिष्ठा तेरे पिता को प्राप्त थी उससे हम सभी गौरान्वित रहते थे। वह आज उनके दिवंगत होते ही छिन गई। किसी दूसरे को प्राप्त हो गई। यदि तू योग्य होता तो यह अधिकार तुझे मिलता और यह दिन नहीं देखना पड़ता इसी का दुख है।” कपिल ने कहा-“माँ मैं भी पिताश्री की भाँति समस्त विद्याओं में पारंगत होकर तुम्हारे व्यथित आँसुओं को पोछूँगा। जिस आसन को पिताश्री ने पवित्र किया था, उसे उपलब्ध न करूँ तो मेरा जन्म लेना सार्थक न होगा। माँ मैं उस उत्तम पद को अवश्य प्राप्त करूँगा। केवल तुम योग्य गुरु की व्यवस्था कर दो। कहो, मैं किसके पास शिक्षा ग्रहण करूँ।”

यशा ने कहा-‘कपिल तुम्हारी बात सुनकर मैं बहुत प्रसन्न हूँ, लेकिन वैशाली के ब्राह्मण बड़े ईष्यालु हैं। यहाँ तुम्हें कोई भी अध्ययन नहीं कराएगा। तुम श्रावस्ती जाओ, वहाँ इन्द्रदत्त नाम के प्रखर विद्वान् ब्राह्मण रहते हैं। तुम्हारे पिता की उनसे घनिष्ठ मैत्री थी। मुझे विश्वास है कि आचार्य तुझे पुत्रवत् समझकर पढ़ाएंगे।’

कपिल ने माँ की बात सहर्ष स्वीकार कर ली और श्रावस्ती आ गया। इन्द्रदत्त शर्मा को प्रणाम करके सारा वृत्तान्त तथा परिचय बता दिया और बोला-“मैं आपकी शरण में हूँ, मुझे विद्यादान दीजिए।” कपिल की सविनय

वाणी में इतना माधुर्य था कि आचार्य आकर्षित हुए बिना नहीं रह सके। उन्होंने कहा-“कपिल तू मेरे भाई के समान मित्र का पुत्र है, तूने अच्छा किया जो पढ़ने का संकल्प लेकर आया।” आचार्य ने विद्या शिक्षण की अनुमति दे दी, साथ ही उसके भोजन आदि की व्यवस्था श्रेष्ठ शालिभद्र के यहाँ कर दी।

कपिल विद्याभिलाषी तथा गुरु भक्त था। वह आचार्य इन्द्रदत्त के यहाँ विद्या अध्ययन करता और भोजन करने श्रेष्ठ के यहाँ जाया करता। वहाँ एक दासी पुत्री थी, सौन्दर्य में अद्वितीय थी। कुछ काल बीता, जिससे नित्य मिलन होने से उनका आकृष्ट होना स्वाभाविक था। “उभरतर यौवन एवं उम्र का प्रभाव”, दोनों एक दूसरे से इतने प्रभावित हुए कि उनका सम्बन्ध प्रगाढ़ हो गया। उनका पाप-व्यापार प्रच्छन्न चलने लगा।

अब कपिल की विद्याध्ययन रूचि और प्रगति कुण्ठित हो गई। उनका मन मस्तिष्क पुस्तक के पृष्ठों पर न टिककर दासी पुत्री के सौन्दर्य और प्रेमजाल में उलझ गया। कपिल जिस लक्ष्य को लेकर श्रावस्ती आया था। उससे गिर गया। आचार्य ने अपनी पारखी दूर दृष्टि से सब कुछ जान लिया। उन्होंने कपिल के कार्य को अनुचित बताया तथा भत्सर्ग की।

दिन बीतते गए जन महोत्सव का समय निकट आया उस दिन सभी स्त्रियाँ स्वर्णहार, कंगन, पायल, केशरिया परिधान आदि से शृंगारित होकर महोत्सव में भाग लेती हैं। दास पुत्री उदास होकर बोली “प्राणेश! उत्सव पर सखियों के साथ जाने, गोष्ठी करने आदि के योग्य द्रव्य मेरे पास नहीं है। मैं कैसे उनमें सम्मिलित हो सकती हूँ। सुन्दर परिधान एवं सुन्दर शृंगार भी नहीं है। पड़ोसिनें मेरी निर्धनता पर व्यंग्य करती हैं। सखियाँ मुझ पर हँसती हैं। मैं इस अभाव, अपमान और तिरस्कार के बीच महोत्सव कैसे मनाऊँ?”

वास्तव में कपिल के पास अपनी सह धर्मिणी को देने के लिये कुछ भी नहीं था। उसकी आजीविका भी मुश्किल से चल पाती थी, उदासीनता एवं दुख ने उसके हृदय में स्थान बना लिया।

दासी पुत्री ने कहा-“स्वामी! एक उपाय है। इस नगर में धनदत्त नाम के श्रेष्ठी रहते हैं जो ब्राह्मण पुरुष, उनके द्वार पर प्रातःकाल सबसे पहले दान ग्रहणार्थ पहुँचता है, उसे वे दो माशा स्वर्ण दान करते हैं। आपको वहाँ जाना चाहिए।

कपिल के चेहरे पर प्रसन्नता छा गई। उसने कहा- “तुम निश्चित रहो यह कार्य मैं अवश्य करूँगा।” कपिल स्वर्ण पाने की लालसा में आधी रात को निकल पड़ा। मार्ग में नगर रक्षकों ने उसे चोर समझकर पकड़ा तथा प्रातःकाल राजा प्रसेनजित के सम्मुख खड़ा किया।

राजा ने कपिल को उसका परिचय तथा रात्रि गमन का कारण पूछा। कपिल ने निश्चल, निर्भय, प्रशांत भाव से सारा वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों सुना दिया। राजा, निर्धन कपिल की सरलता एवं स्पष्टवादिता पर मुग्ध हो गया। प्रसेनजित ने कहा-कपिल मैं तुम्हें मुक्त करता हूँ। तुम दो माशा स्वर्णदान पाने निकले हो, मैं तुमसे प्रसन्न हूँ, बोलो तुम्हें क्या चाहिए? तुम जो कुछ माँगोगे मिलेगा।

यह सुनकर कपिल विचारने लगा- “मैंने, श्रेष्ठी से दो माशा सोना पाने की अभीप्सा से ही तो अर्द्धरात्रि में बहिर्गमन किया है क्यों न मैं वही दो माशा सोना राजा से माँग लूँ! परन्तु तभी विचार आया कि जब राजा से माँगना ही है, तो इतना-सा ही क्यों माँगू! राजा ने कहा है कि जो माँगोगे, तुम्हें वही मिलेगा तो क्यों न मैं सौ मोहरें माँग लूँ, ताकि नित्य की ब्राह्मणचर्या, दान-दक्षिणा से मुक्ति मिल जाए। हठात् उसे सौ मोहरें भी तुच्छ लगने लगी। दारिद्र्य के अन्धकार को मिटाने के लिए उसे अधिक धन का प्रकाश अपेक्षित था। उसके मन में इच्छा हुई कि हजार मोहरें माँग लूँ। उसका लोभ जंगली घास की तरह अभिवर्द्धित होता ही रहा। अगले क्षण जब हजार मोहरें भी अल्प लगने लगीं, तब उसने लाख/करोड़ मोहरें माँगने का सोचा। तत्पश्चात् भी उसकी माँग और चाह का भिक्षापात्र नहीं भरा और वह खाली ही रहा। उसके मन में एक ही तृष्णा थी, कुछ और! कुछ और!! कुछ और!! लाख और करोड़ स्वर्णमुद्रा प्राप्त होने पर तो मैं केवल लखपति और करोड़पति ही हो पाऊँगा। क्या ऐसी भी कोई वस्तु है जिसे पाने के बाद करोड़पति भी उसके अधीन हो जाए। सहसा उसे ध्यान आया कि ऐसी वस्तु यह राज्य है। जब महाराजा मनवांछित वस्तु के लिए तैयार हैं, तो मैं यह सारा राज्य ही क्यों न माँग लूँ!

प्रसेनजित के सम्बोधन ने कपिल की तीव्रगति विचार-धारा को हठात् रोक दिया। उन्होंने पुनः पुछा, “कपिल! तुमने क्या माँगने का सोचा है, बोलो?”

कपिल कहने ही जा रहा था कि “आपका समस्त राज्य”, परन्तु तत्क्षण उसका कण्ठ अवरुद्ध हो गया। ‘अरे! मैं क्या माँगने जा रहा हूँ? राजा जैन संस्कार पाठ्यक्रम भाग-7

से उसका राज्य? क्या स्वर्गस्थ महापण्डित काश्यप का पुत्र कपिल इतना अधम है? मेरा लोभ कहाँ-से कहाँ बढ़ गया! दो माशा स्वर्ण का याचक कपिल समस्त राज्य की याचना करने जा रहा है। धिक्! धिक्! धिक्!!!

कपिल ने आत्म-जागरण को प्राप्त किया। उसके सामने जीवन में एक-एक दृश्य उपस्थित होने लगे। माँ ने मुझे किन-किन आशाओं के साथ श्रावस्ती भेजा था, किन्तु मैं उन्हें फलीभूत करने में असफल रहा। दासीपुत्र के प्रेम-पाश में आसक्त होकर मैं उद्देश्य पतित और लक्ष्यच्युत हो गया। क्या मेरा यही पुत्रत्व है? कहाँ माँ का प्रेम, कहाँ पत्नी का प्रेम! दोनों में कितना अन्तर है, माँ ने औढरदानी की तरह मुझ पर वात्सल्य और प्रेम उड़ेली है, जबकि पत्नी प्रतिदिन के बदले में प्रेमदान करती है। आज उसकी दो माशे स्वर्ण की माँग है, कल और अधिक की माँग होगी। इच्छाओं के आगे तो स्वयं सम्राट भी भिखारी हो जाता है तो उसकी इच्छा/माँग का पात्र क्या कभी आपूर्ण भर पाएगा? ओह! मैंने माँ के विश्वास को टुकरा दिया। आचार्य की भत्सर्ना से भी मैं सचेत न हो पाया। क्या मेरा यही शिष्यत्व है? आचार्य मुझे कितने वात्सल्य से शिक्षा-प्रदान करते थे? लेकिन मैंने उनके अनुग्रह का आदर नहीं किया। मैं उनकी ज्ञान-गंगा से घूट-भर जल भी ग्रहण न कर सका। मुझे धिक्कार है, जो मैं मन के पाश में उलझकर विपथगामी हो गया।

कपिल के मन-सिन्धु पर तरंगित वैचारिक तरंगे क्षणभर के लिए शान्त हो गई। उसके आत्म-चक्षु का दिव्य द्वार खुल गया। उसके विचारों ने सहसा ऐसा मोड़ लिया कि लोभ की पराकाष्ठा अलोभ में रूपान्तरित हो गई।

कपिल विचारने लगा, ‘मैं आकांक्षा के वशीभूत होकर कहाँ से कहाँ चला गया। दो माशे सुवर्ण का आकांक्षा क्या समस्त राज्य को पाकर सुखी हो पाएगा? नहीं एक आकांक्षा के बीज से अनगिनत आकांक्षाएँ फलित होती हैं। अतः क्यों न प्रथम आकांक्षा को ही जड़ से उखाड़ फेंकूँ। आखिर, आकांक्षा तो दुष्पूर और दुःखों की जननी है। यदि आकांक्षा निष्कांक्षा में बदल जाए तो वह सुखोपलब्धि होगी, जिसकी कोई परिसीमा नहीं है।

प्रसेनजित ने अपना प्रश्न दोहराया, “बताओ! तुम्हें क्या चाहिए?”

प्रसेनजित ने देखा, कपिल के जिस मुख-मण्डल पर पहले परेशानी की रेखाएँ परिलक्षित हो रही थीं, किन्तु अब वह प्रशांत था। उसके भालस्थल पर आकर्षण और विलक्षण चमक थी।

प्रसेनजित के पुनः प्रश्न करने पर कपिल ने शान्त स्वरों में केवल

इतना ही कहा, “क्षमा करें राजन्! मुझे कुछ नहीं चाहिए।”

प्रसेनजित कपिल की ओर अवाक्-से देखते ही रह गए। बोले, “तुम क्या कह रहे हो, तुम्हें कुछ नहीं चाहिए?”

“हाँ! राजन्! मुझे भी नहीं चाहिए” यह कहते हुए कपिल ने अपने प्रत्युत्तर का पुनरावर्तन किया।

कपिल बोला, “राजन्! मुझे जो पाना था, मैंने पा लिया है। अब आप से कुछ लेने की मेरी कोई अभिलाषा नहीं है। आपके समस्त वैभव-साधन भी मुझे तृप्त नहीं कर पाए, परन्तु उनकी अनाकांक्षा ने मेरा पथ प्रशस्त कर दिया है। राजन्! जैसे-जैसे लाभ होता है, वैसे-वैसे लोभ बढ़ता है। लाभ और लोभ बढ़ता जाता है। मैं दो माशे सोने की प्राप्ति के निमित्त घर से निकला था, लेकिन मेरी इच्छा-पूर्ति करोड़ों स्वर्णमुद्राओं से भी नहीं हुई। आकांक्षा-तृष्णा अनन्त है, दुष्पूर है, राजन्! इसकी इति उसकी पूर्ति से नहीं अपितु उसके परित्याग से निष्कांक्षा से होती है। राजन्! लोभ, लोभ से नहीं, अपितु अलोभ से शांत होता है।”

“मेरे विचारों में मोड़ आ चुका है मैं पाप के मूल लोभ का त्याग कर श्रमण निर्ग्रन्थ हो गया हूँ। अब मुझे कुछ नहीं चाहिए।”

कपिल मुनि राज्य सभा से निकले और ममत्व रहित निःसंग, निस्पृह एवं निरहंकारी होकर उग्रतप करने लगे। छः महीने की कठोर साधना में ही वीतराग होकर सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो गए। कपिल केवलि विचरण करते हुए राजग्रह नगर जा रहे थे। मार्ग में अट्ठारह योजन प्रमाण भयंकर अटवी थी। उस अटवी में बल प्रभ नामक दूर्दान्त डाकू रहता था। जिसके दल में 500 डाकू थे। वीतराग कपिल ने उस अटवी में विहार करते हुए उत्तमोत्तम निमित्त उपादान को जानकर उन्हें उपदेश दिया। उनके उपदेश से प्रभावित होकर सरदार सहित सभी डाकू विरक्त हो गए तथा कपिल केवली के समीप निर्ग्रन्थ दीक्षा अंगीकार करके आत्म कल्याण साधा।

स्वयं मुक्ति को प्राप्त करने वाले एवं दुष्प्रवृत्तियों में फँसे पाँच सौ चोरों को प्रतिबोध देकर संयम पथ पर आरूढ़ कराने वाले महामुनि कपिल केवली को हमारा भावपूर्ण वन्दन हो। उन्हीं की तरह हमारी भी तृष्णा मिटे, विरक्ति के भाव जगें, तभी हमारी भी मुक्ति संभव है।

काव्य विभाग

1. परमात्म बत्तीसी (16)

मैत्री सकल-जग-जीव से, आनन्द गुणियों में रहे,
जो कष्ट पीड़ित जीव, करुणा-स्त्रोत उनके हित बहे।
विपरीत पथ पर चरण रख, जो नर यहां हैं चल रहे,
हे नाथ! मेरी आत्मा, मध्यस्त उनके प्रति रहे॥1॥

हे भिन्न आत्मा देह से, जो अमित शक्ति निधान है,
सब दोष से उन्मुक्त जिसका, सहज रूप महान् है।
जो म्यान से तलवार को, हम पृथक करते हैं सदा,
हे जिन्! तुम्हारी पा कृपा, वह आत्म बल पाए सदा॥2॥

हो दुःख या सुख शत्रु, अथवा बन्धु का सहवास हो,
संयोग या कि वियोग हो, घर या अरण्य निवास हो।
ममता भरी जो भावना, वह सर्वथा ही दूर हो,
हे नाथ! सबके प्रति सदा, सम मन मेरा भरपूर हो॥3॥

अज्ञान तम को दूर करने में, तेरे दीपक-चरण,
मेरे हृदय का हो सदा, बस एक मात्र वही शरण।
होवे बसे या लीन हो, या कीलवत् दिल में गड़े,
प्रतिबिम्ब सम हे मुनि शिरोमणि! वे हृदय में हों पड़े॥4॥

प्रतिक्रमण (प्रभु समीपे स्वात्म चिंतन)

भ्रमवश यहां चलते हुए, एकेन्द्रियादिक जीव-तन,
टुकड़े किए या नष्ट उनको, हन्त! बेपरवाह मन।
हों धूल में उनको मिलाया क्लिष्ट पीड़ा या दिए,
मिथ्या बनें वे दोष सब, हे देव! हमने जो किए॥5॥

2. संघ समर्पणा गीत

संघ हमारा अविचल मंगल, नन्दन वन सा महक रहा।
हम सब इसके फूल व कलियाँ, सुन्तरतम निज संघ अहा।।
वीर प्रभु के उपदेशों ने, संघ की महिमा गाई है।
सुर नर वंदन करे संघ को, संघ साधना भाई है।।
संघ समष्टि का हित करता, व्यष्टि उसमें शामिल है।
संघ हेतु निज स्वार्थ तजे जो, वही प्रशंसा काबिल है।।
व्यक्तिवाद विद्वेष बढ़ाता, संघवाद दे पेम सदा।
व्यक्ति भाव को छोड़ समर्पण, संघभाव में रहे सदा।।
व्यक्ति अकेला निर्बल होता, संघ सबल होता माने।
संघे शक्ति कलौ-युगे की, सत्य भावना पहचाने।।
एक सूत्र कोई भी तोड़े, रस्सी हस्ती को बांधे।
एक-एक मिल बना संघ यह, दुस्संभव को भी साधे।।
संघ श्रेय में आत्म श्रेय है, ऐसा दृढ़ विश्वास मेरा।
संघ में मुझमें भेद न कोई, बोल रहा हर श्वास मेरा।।
संघ परम उपकारी हमको, संघ ने सम्यक् बोध दिया।
संघ ना होता हम क्या होते, संघ ने हमको गोद लिया।।
शैशव, यौवन, वृद्धावस्था, सदा संघ उपकारी है।
भवसागर से तारण हारा, हम इसके आभारी हैं।।
नगर, चक्र, रथ, पद्म, चन्द्र, रवि, सागर मेरू की उपमा।
सूत्र नन्दी में संघ गौरव की, क्या कोई है कम महिमा।।
प्रेम सूत्र से बंधा संघ है, हिलमिल आगे बढ़ते हैं।
निन्दा विकथा तज गुणजन के, गुणगण मन में धरते हैं।
दूर हटा छल, छद्म, अहम् को, सरल, सहज, सद्भाव बढ़े।
संघ हित हेतु तज निज इच्छा, सरल सुकोमल भाव वरें।।
नाम अमर है उन वीरों का, जिनने संघ सेवाधारी।
अपना कुछ ना सोच किया, सर्वस्व संघ पर बलिहारी।।

यही प्रार्थना वीर प्रभु से, ऐसी शक्ति दो मुझको।
संघ सेवा में झोकें जीवन, और न कुछ सुझे हमको।।
संघ हेतु कुर्बान हमारा, तन मन जीवन सारा है।
संघ हमारा ईश्वर हमको, संघ प्राण से प्यारा है।।
चमड़ी कागज, खून की स्याही, अस्थि लेखनी लेकर के।
रचे भले संघ गौरव गाथा, उत्रण न हो उपकारों से।।
अरिहंत सिद्ध सुदेव हमारे, गुरु निर्ग्रथ मुनीश्वर है।
जिनभाषित सद्धर्म दयामय, नित्य यही अन्तर स्वर है।।
सद्गुरु आज्ञा ही प्रभु आज्ञा, इसमें भेद न कोई है।
शास्त्र-शास्त्र में जगह-जगह पर, वीर वचन भी वो ही है।।
संघ नायक संघ मालिक, हम सब साधुमार्ग अनुयायी हैं।
और नहीं दूजे हम कोई, बस तेरी परछाई है।।
रत्नत्रय शुद्ध पालन करके, तोड़े कर्मों की कारा।



5. हे प्रभु पंच परमेष्ठी दयाला

(तर्ज-झण्डा उंचा रहे हमारा)

हे प्रभु पंच परमेष्ठी दयाला।

मुझमें कर दो ज्ञान उजाला।।टेर।।

अरिहन्त सिद्ध को शीश नमाऊँ,

आचार्य उपाध्याय के गुण गाऊँ।

मुनिवर सब ही गुण की माला।।हे प्रभु....।।

इनकी भक्ति का रस पीऊँ,

व्यसन मुक्त मैं जीवन जीऊँ।

पीकर जिनवानी का प्याला।।हे प्रभु....।।

अन्तर्दृष्टा मैं बन जाऊँ,

सम्यक् ज्ञान की ज्योति जगाऊँ।

शुद्धाचार को ओढ़ दुशाला।।हे प्रभु...।।

झूठ अनीति को मैं छोड़ूँ,

विषय वासना से मुख मोड़ूँ।

समझूँ इसको विष का प्याला।।हे प्रभु....।।

मन वच तन योग को सुखकर,

जीवन को यह स्व पर हितकर।

“धर्म” ध्यान को हो उजियाला।।हे प्रभु....।।



सामान्य ज्ञान विभाग

1. परम कल्याण के 40 बोल

1. शुद्ध समकित पालने से जीव का परम कल्याण होता है- श्रेणिक राजा
2. निदान रहित तपस्या करने से जीव का परम कल्याण होता है-
तामली तापस
3. तीन योगों को शुभ प्रवर्ताएं तो जीव का परम कल्याण होता है-
गजसुकुमाल मुनि
4. समभाव सहित क्षमा करने से जीव का परम कल्याण होता है-
अर्जुनमालाकार
5. पाँच महाव्रत निर्मल पालें तो जीव का परम कल्याण होता है-
गौतम स्वामी
6. प्रमाद छोड़कर अप्रमादी हों तो जीव का परम कल्याण होता है-
शैलक राजर्षि
7. इन्द्रिय दमन करने से जीव का परम कल्याण होता है- हरिकेशी मुनि
8. मित्रों के साथ छल-कपट न करें तो जीव का परम कल्याण होता है-
मल्लिनाथ भगवान के पूर्वभव के छ: मित्र
9. धर्म-चर्चा करे तो जीव का परम कल्याण होता है-
केशी श्रमण गौतम स्वामी
10. सत्य धर्म पर श्रद्धा रखने से जीव का परम कल्याण होता है-
वरुण नागनतुआ का मित्र
11. जीवों पर करुणा करे तो जीव का परम कल्याण होता है-
मेघकुमार (हाथी के भव में)
12. सत्य बात निशंक कहे तो जीव का परम कल्याण होता है-
आनन्द श्रावक
13. कष्ट आने पर व्रतों पर दृढ़ रहें तो जीव का परम कल्याण होता है-

अंबड़ संन्यासी

2. समाधि स्वरूप

दशवैकालिक सूत्र के 9वें अध्ययन के चतुर्थ उद्देश्य में विनय समाधि का वर्णन चलता है-

अहो भगवन् समाधि क्या है?

हे शिष्य! आत्मा का हित होना, आत्मा की सुख शांति की प्राप्ति होना तथा आत्मा का परभावों की ओर न जाकर स्वभाव में अर्थात् ज्ञान दर्शन चारित्र्य रूप मोक्ष मार्ग में स्थिर हो जाना समाधि है।

अहो भगवन्! ऐसी समाधि को प्राप्त करने के कितने कारण हैं?

हे शिष्य! ज्ञानियों ने इसके चार कारण बतलाए हैं-

1. विनय समाधि (विणय समाही)
2. श्रुत समाधि (सुय समाही)
3. तप समाधि (तव समाही)
4. आचार समाधि (आयार समाही)

जो जितेन्द्रिय साधक इन चार समाधि में अपनी आत्मा को लगाये रखता है वही सच्चा पण्डित है। उक्त चार समाधि के चार-चार भेद हैं।

१. विनय समाधि के चार भेद:-

1. अपनी आत्मा का कल्याण चाहने वाला साधक परमोपकारी गुरु सदा सेवा शुश्रुषा करे एवं उनकी आज्ञा को सुनने की इच्छा रखे।
2. गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करे।
3. फिर उसी के अनुसार आचरण करे।
4. विनयी होने का अभिमान न करे।

२. श्रुत समाधि के चार भेद:-

1. अध्ययन करने से मुझे श्रुत ज्ञान का लाभ होगा।
2. अध्ययन करने से चित्त की एकाग्रता होगी।
3. मैं अपनी आत्मा को धर्म में स्थिर करूँगा।
4. दूसरों को भी धर्म में स्थिर रख सकूँगा ऐसा समझकर साधक अध्ययन करें।

३. तप समाधि के चार भेद:-

1. इहलौकिक भौतिक सुखों के लिए एवं किसी लब्धि की प्राप्ति के लिए तपस्या न करें।
2. परलौकिक भौतिक सुखों के लिए तपस्या न करें।
3. कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लाघा (पूजा-महिमा) अर्थात् पद, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि, प्रशंसा आदि के लिए तपस्या न करें।
4. कर्म निर्जरा के अतिरिक्त और किसी भी उद्देश्य के लिए तपस्या न करें।

४. आचार समाधि के चार भेद:-

1. इहलौकिक भौतिक सुखों के लिए एवं किसी लब्धि आदि की प्राप्ति के लिए आचार का पालन न करें।
 2. परलौकिक सुखों के लिए आचार का पालन न करें।
 3. कीर्ति-वर्ण शब्द और श्लाघा (अति प्रशंसा) के लिए भी आचार का पालन न करें।
 4. जैन सिद्धान्त में कहे हुए कारणों के अतिरिक्त किसी के लिए भी आचार का पालन न करें, किन्तु आते हुए आश्रवों के निरोध के लिए आचार का पालन करें क्योंकि किसी प्रकार की आशा न रखकर आचार का पालन करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।
- “निर्मल चित्त वाला एवं अपनी आत्मा को संयम में स्थिर रखने वाला 4 प्रकार की समाधियों से सम्पन्न साधक जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है। नरक आदि सब पर्यायों को सर्वथा त्याग देता है। वह या तो शाश्वत सिद्ध हो जाता है अथवा कुछ कर्म शेष रह जाते हैं तो महर्द्धिक देव होता है।

3. क्षमा

किसी व्यक्ति द्वारा मन, वचन और काया से बिना कारण ही पीड़ा पहुँचाने पर या गाली देने पर अथवा अभद्र व्यवहार करने पर उसके लिए प्रतिकार करने की शक्ति होने पर भी अत्यन्त शांति एवं समतापूर्वक उस कष्ट को सह लेना और किसी भी प्रकार का प्रतिकार नहीं करना 'क्षमा' है। क्रोध द्वारा उत्पन्न करने होने वाले कलुषित परिणामों का निग्रह करना 'क्षमा' है।

यदि कोई मनुष्य गोरा, हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ है तथा पाँच इन्द्रियों में केवल एक इन्द्रिय यानी चेहरे पर आँख न हो, तो वह मनुष्य कैसा लगेगा? इसी प्रकार मानव में भले ही अनेक गुणों का समावेश हो, किन्तु यदि क्षमा का गुण न हो, तो वह निर्गुणी ही कहलायेगा। यह संसार है और संसार व्यवहार में किसी न किसी निमित्त कड़वे शब्द बोलने में आ ही जाते हैं, पर जो क्षमाधारी होता है, वह तत्काल या जल्द-से-जल्द क्षमा याचना कर मन-मतिष्क को स्वच्छ बना लेता है। मन में यदि विरोध रखकर केवल शब्दों से क्षमा माँग भी ली जाये, तो वह वास्तविक क्षमा नहीं है। वास्तविक क्षमा तो हृदय की निष्कपटता ही है।

क्षमा के मोटे रूप से चार भेद किए जा सकते हैं:- (1) मानसिक क्षमा, (2) वाचिक क्षमा, (3) कायिक क्षमा और (4) आत्मिक क्षमा।

(1) अकारण से पैदा हुए अपने विरोधी के प्रति मन में बुरी भावना नहीं लाना, मानसिक क्षमा है। (2) इसी प्रकार से विरोधी के प्रति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मुँह द्वारा बुरे अथवा अपमानजनक शब्द नहीं कहना, नहीं लिखना, वाचिक क्षमा है। (3) विरोधी की तुलना में अपना शरीर अधि क बलवान होने पर भी विरोधी को हानि नहीं पहुँचाना, बदला नहीं लेना ही शारीरिक क्षमा है। (4) सबसे सर्वोच्च क्षमा आत्मिक क्षमा है। विश्व के सभी प्राणियों के प्रति दया, करुणा व मैत्री भाव रखना एवं जाने-अनजाने में हुए अपराधों के प्रति स्वयं ही क्षमा-याचना करना आत्मिक क्षमा है।

'क्षमा वीरस्य भूषणम्'- क्षमा वीरों का आभूषण है। क्षमा समर्थ व्यक्ति ही कर सकता है, निर्बल नहीं। क्षमा से आत्मा में तेजस्विता, गौरव और आत्मबल की वृद्धि होती है। क्षमा निर्मल जल के समान है, जो कि

विरोधी की क्रोध रूपी अग्नि को शान्त कर देती है। क्षमा से हिंसक-से-हिंसक प्राणी भी दयावान और परोपकारी बन सकता है। क्षमा धारण करने से परिषहों, उपसर्गों और आपत्ति-विपत्ति को सहन करने की शक्ति पैदा होती है। क्षमा से शत्रुता मिटकर मित्रता की भावना पैदा होती है। क्षमा से पूर्वकृत पाप भी दूर हो जाते हैं।

मानव की मानवता इसी में है कि जीवन व्यवहार में प्रतिकूल परिस्थिति या संयोग आ जाने पर क्रोध का प्रसंग पैदा हो जाए तो भी हृदय में क्षमा भाव ही बनाये रखे। क्षमा, प्रेम और सद्भाव की वर्षा करती है, जबकि क्रोध इन गुणों का नाश कर देता है। क्रोध से जीव का दुर्गति मिलती है, जबकि क्षमा से सद्गति ही मिलती है। सभी धर्मों में क्षमा को एक उत्तम एवं आदर्श गुण के रूप में माना गया है। क्षमाधारी द्वारा क्षमा करने पर उसका महत्व घट नहीं जाता है, बल्कि और कई गुना बढ़ जाता है।

क्षमा आत्मा का स्वभाव है। आत्म-शान्ति के लिये सबसे महत्वपूर्ण बात है- कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ) की उपशान्ति। कषाय भयंकर अग्नि रूप है। मनुष्य के हृदय में कषायों के कारण बेचैनी, अकुलाहट और छटपटाहट महसूस होती है, इसे क्षमा ही शान्त कर सकती है। किसी से कलह हो गया हो, किसी को कटु-वचन कह दिया हो, किसी के दिल को ठेस पहुँचाई हो, तो उसी समय उससे क्षमा-याचना कर लेनी चाहिए। क्षमा एक ऐसी अद्भुत वस्तु है, जिसे देने वाला और लेने वाला दोनों सुखी हो जाते हैं।

मनुष्य की शोभा रूप से है। रूप की शोभा गुण से है, गुण की शोभा ज्ञान से है। ज्ञान की शोभा क्षमा से है। मनुष्य में रूप है, गुण है, ज्ञान है, मगर क्षमा नहीं, तो बिना नमक का भोजन है, बिना आँख का सूरदास है। क्षमा करने की प्रवृत्ति से मनुष्य में सहनशीलता, धीरता और गम्भीरता आती है और क्षमाधारी व्यक्ति ही संसार में संकटों पर विजय प्राप्त कर प्रतिष्ठा, यश और कीर्ति प्राप्त कर सकता है। जिस महापुरुष के हाथ में क्षमा रूपी शस्त्र है, उसका दुर्जन व्यक्ति कुछ भी अहित नहीं कर सकता है।

अर्जुनमाली जो कि दानव ग्रस्त था, क्षमा के बल पर ही अपने को वीतराग देवत्व रूप में परिणित कर लिया। चण्डकोशिक जैसे विषधर सर्प

ने भी भगवान महावीर के नेत्रों में अपने प्रति स्नेह, करुणा एवं क्षमा भावना देखकर जीवन-पर्यन्त न डँसने का प्रण ले लिया। भगवान महावीर की क्षमा उच्च कोटि की थी। महावीर के सामने अज्ञानी ग्वाला आया, कान में कीलें ठोक गया। संगम देव आया, शूलपाणी यक्ष आया, महावीर ने सबके घोर परिषह समता भाव से सहन कर सभी को क्षमा की वर्षा से तर-बतर कर दिया।

क्रोध शमन का एकमात्र उपाय क्षमा भाव है। क्रोध विजय से ही जीव क्षमा को धारण करता है। तभी महात्मा बुद्ध ने कहा कि- “जो उत्पन्न क्रोध को चलते रथ की तरह रोक देता है, उसे ही मैं सारथी कहता हूँ। बाकी सब लोग लगाम पकड़ने वाले हैं।” क्रोध रूपी अग्नि को शान्त करने के लिए- क्षमा की जल धारा ही समर्थ है। क्रोध का प्रतिकार क्रोध से नहीं, क्षमा से होता है। वैर से वैर कभी शान्त नहीं होते, यह अटल सत्य है। अतः क्रोध को क्षमा से ही जीतना चाहिए।

क्षमादान का आध्यात्मिक जीवन में तो बहुत अधिक महत्व है। शत्रुओं और विरोधी के प्रति क्षमा भाव रखना, यह सर्वोत्तम दान है। जब तक क्षमा दान नहीं किया जाता, जब तक हृदय की गाँठ नहीं खुलती। हृदय की गाँठ वाला व्यक्ति संसार में कहीं भी आदर नहीं पा सकता। जिस चीज में गाँठ होती है, उसे अच्छा नहीं मानते हैं। शरीर में भी अगर गाँठ होती है, तो डॉक्टर द्वारा ऑपरेशन करके उसे निकाल देने पर कितनी शान्ति और चैन मिलता है। जब शरीर की गाँठ का यह हाल है, तो मन की गाँठ का हाल तो और भी कष्टदायी होता है। मन जब तक गाँठ है, तब तक धर्म की आराधना नहीं हो सकती। अतः साधक को मन की गाँठ को जितनी जल्दी हो सके, उतनी जल्दी निकाल देना चाहिए।

एक नवदीक्षित मुनि थे। बाल्यकाल में दीक्षा ले ली थी। इनको भूख सहन नहीं होती थी। अष्टमी-चौदस को भी उपवास का तप नहीं कर पाते थे, किन्तु कषायों को जीतने का सदा प्रयत्न करते रहते थे। एक दिन संवत्सरी का पर्व आया। इस दिन छोटे-बड़े सभी उपवास का तप रखते हैं। सभी साथी मुनियों के उपवास का तप था, किन्तु मुनि उपवास नहीं कर सके। भिक्षाचर्या से जो आहार मिला, उसे आचार के नाते गुरु भाई को आहार

दिखाकर आज्ञा माँगी। इनके इस अतप से गुरु भाई क्रोधित हो गए एवं आहार पात्र में थूक दिया। वे मुनि क्षमा धारण किए हुए थे, वे शान्त रहे तथा गुरु भाई से क्षमा-याचना की और कहा कि- “मैं आपके लिये थूक पात्र नहीं ला सका, इसलिए मेरा अपराध क्षमा करें।” अब मुनि अपने आपको धिक्कारने लगे कि मैं कैसा हूँ, जो भूख व आहार पर नियन्त्रण नहीं कर पा रहा हूँ। मेरे गुरु भाई और दूसरे मुनि वृन्द कितनी तपस्या कर रहे हैं। भावों की तन्मयता से अपने आपको धिक्कारते हुए प्रायश्चित्त करते-करते मुनि को ‘केवल ज्ञान’ हो गया।

ऐसे अनेक दृष्टांत जैन ग्रन्थों में भी विद्यमान हैं।

अतः हमें अपने जीवन में क्षमा भाव के महत्व को समझना चाहिए तथा अपने व्यवहारिक जीवन में योगों से, क्रिया से, इसका उपयोग करते हुए जीवन को सार्थक बनाना चाहिए।



4. आलोचना के सुभाषित

पान खरंतो इम कहे, सुन तरुवर वनराय।
अब के बिछड़े कब मिले, दूर पड़ेंगे जाय॥1॥
तब तरुवर उत्तर दियो, सुनो पत्र इक बात।
इस घर एही रीत है, इक आवत इक जात॥2॥
बरस दिनों की गाँठ को, उच्छब गाय बजाय।
मूरख नर समझे नहीं, बरस गाँठ को जाय॥3॥
पवन तणो विश्वास किम कारण ने दूढ़ कियो।
इनकी एही रीत, आवे के आवे नहीं॥4॥
करज बिराना काढ़ के, खर्च किया बहु नाम।
जब मुद्दत पूरी हुई, देणा पड़सी दाम॥5॥
बिन दियाँ छूटे नहीं, यह निश्चय कर मान।
हँस-हँस के क्यों खरचिये, दाम बिराना जान॥6॥
जीव हिंसा करतां थकां, लागे मिष्ट अज्ञान।
ज्ञानी इम जाने सही, विष मिलियो पकवान॥7॥
काम भोग प्यारा लगे, फल किं पाक समान।
मीठी खाज खुजावतां, पीछे दुःख की खान॥8॥
जप तप संजम दोहलो, औषध कड़वी जाण।
सुख कारण पीछे घणो, निश्चय पद निरवाण॥9॥
डाभ अणी जल बिन्दुवो, सुख विषयन को चाव।
भवसागर दुःख जल भरयो, यह संसार स्वभाव॥10॥
चढ़ उत्तंग जहाँ से पतन, शिखर नहीं वो कूप।
जिस सुख अंदर दुख बसे, सो सुख भी मुख रूप॥11॥
जब लग जिसके पुण्य का, पहुँचे नहीं करार।
तब लग उसको माफ है, अवगुण करे हजार॥12॥
पुण्य क्षीण जब होत है, उदय होत है पाप।
दाझे वन की लाकड़ी, प्रजले आपो आप॥13॥

-----●-----

णमो सिद्धाण

श्री साधुमार्गी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड बीकानेर

जैन संस्कार पाठ्यक्रम परीक्षा-2012

समय: 3 घण्टे

प्रश्न-उत्तर पत्र भाग-7

पूर्णांक: 100

नोट: सभी प्रश्नों के उत्तर दिये गये निर्देशों के अनुसार निर्धारित स्थान पर इसी पत्र पर लिखे।

उत्तर सुवाच्य अक्षरों में स्पष्ट लिखे। पत्र पुनः लौटावें।

सूत्र विभाग-३५

प्रश्न १. निम्न रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

५

- 1) नमिराजर्षि ने..... बुद्ध होकर प्रव्रज्या ग्रहण की।
- 2) नमि की माता का नाम..... था।
- 3) नमिराजर्षि का जीव पूर्व जन्म में सागरोपम वाले देवलोक में था।
- 4) नमि राजा की परीक्षा लेने शकेन्द्र का रूप बनाकर आए।
- 5) नमि पलजा अध्ययन में गाथाओं की संख्या..... है।

प्रश्न २. निम्न गाथाओं को पूर्ण कीजिए।

२०

- 1) चइउण..... जाइं।
- 2) मिहिलं..... भयवं।
- 3) मिहिलाए..... सया।
- 4) सुहं, किंचण।
- 5) सद्धं दुप्पधंसय।
- 6) संसयं.....।

-सासयं॥
 7) अप्पाणमेव..... सुहमेहए॥
 8) जो सहस्सं..... किंचणं॥
 9) हिरण्णं..... खतिया॥
 10) अहो..... उत्तमा॥

प्रश्न ३. निम्न के शब्दार्थ लिखो।

१०

- 1) भयवं -
 2) सहसंबुद्धो -
 3) कोलाहलग संकुला -
 4) इणमब्बवी -
 5) डज्जमाणीए -
 6) कारइत्ताणं -
 7) परिमुच्चए -
 8) गुंतुमिच्छेज्जा -
 9) भोच्चा -
 10) आगाससमा -

तत्त्व विभाग-२५

प्रश्न १. सही () व गलत () बताइये।

५

- 1) श्री उत्तराध्ययन सूत्र के आठवें पद में संज्ञा का वर्णन चलता रहे। ()
 2) मनुष्य में सबसे थोड़े मैथुन संज्ञा वाले जीवन होते हैं। ()
 3) देव गति से आगे जीव में लोभ अधिक होता है। ()
 4) सिद्ध भगवान आत्मारंभी है। ()
 5) श्री प्रज्ञापना सूत्र में समिति, गुप्ति का वर्ण है। ()

प्रश्न २. निम्न प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में लिखिए।

५

- 1) यतना के चार भेद के नाम लिखो।
 उत्तर
 2) चौथी समिति का नाम लिखो।
 उत्तर
 3) ग्रहणैषणा का निक्षिप्त दोष साधु को कब लगता है?
 उत्तर
 4) क्रीत दोष को परिभाषित कीजिए।
 उत्तर
 5) उत्पादना का वनीपक दोष को परिभाषित कीजिए।
 उत्तर

प्रश्न ३. निम्न प्रश्नों के उत्तर लिखो। (अधिकतम सीमा ३० शब्द) १५

- 1) परिग्रह संज्ञा के चार कारण लिखो।
 उत्तर
 2) रोगोत्पत्ति के नौ कारण लिखो।
 उत्तर
 3) ईर्या समिति की परिभाषा तथा चारण लिखो।
 उत्तर
 4) ग्रहणैषणा के दस दोषों के नाम लिखो।
 उत्तर

5) आहार करने के छः कारण तथा आहार त्यागने के छः कारण लिखिए।
उत्तर

कथा विभाग-१०

प्रश्न १. किसने किसने कहा? (उत्तर निर्धारित स्थान पर लिखें) १०

1) “तुम्हें जितना धन चाहिए ले लो। किंतु ये दोनों वस्तुएं देनी होंगी।”
उत्तर

2) “महाराज! कब से वे तो महल में ही हैं, पता नहीं उन्हें क्या हो रहा है?”
उत्तर

3) “कपिला! तुम भोली हो। अब देखना सेठ सुदर्शन को मैं अपने जाल में कैसे फंसाती हूँ”
उत्तर

4) “तुम निश्चिंत रहो यह कार्य मैं अवश्य करूँगा।”
उत्तर

5) “बताओं तुम्हें क्या चाहिए?”
उत्तर

काव्य विभाग-१५

प्रश्न १. निम्न काव्यांशों को पूर्ण करो। १५

1) भ्रमवश

..... अज्ञान-तम मेरा हरेँ।।

2) संसार के.....
.....
..... आकर रहे।।

3) व्यक्तिवाद.....
.....
..... रहे सदा।
व्यक्ति.....

..... भावना पहचाने।।

4) सिद्ध प्रभुवर
.....
..... इनका ध्यान।।

5) रत्नत्रय.....
.....
..... यह नारा।
स्वार्थमान.....

..... वरता है।।

सामान्य ज्ञान विभाग-१५

प्रश्न १. किसने किससे कहा? निर्धारित रिक्त स्थान पर लिखे।।

५

1) शुद्ध समकित पालने से जीव का परम कल्याण होता है।
(.....)

